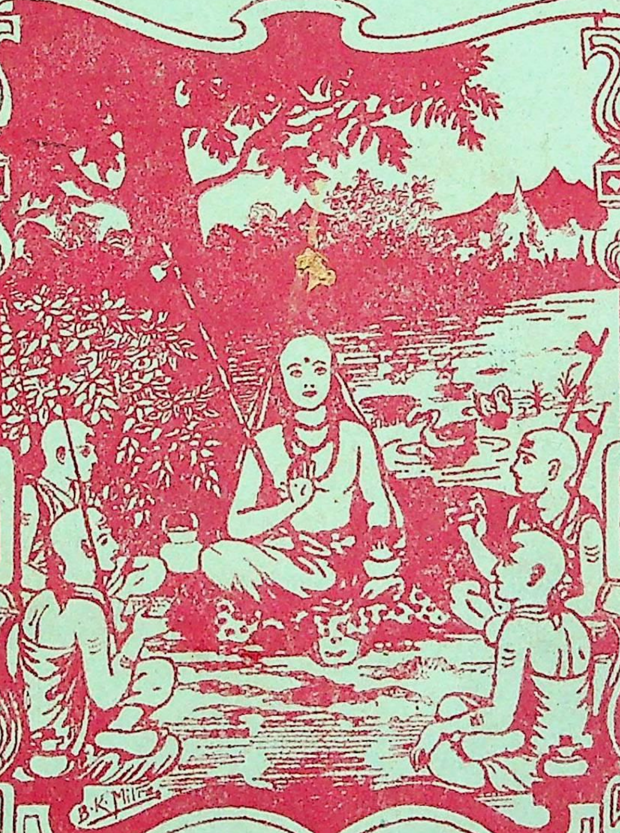
ऐतरेयोपनिषद्



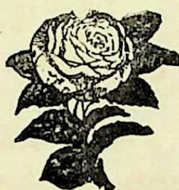
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य पैंतालीस पैसे

ॐ

ऐतरेयोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित



गीताप्रेस, गोरखपुर

प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं०	१९९३ से २०१८	तक	३२,२५०
सं०	२०२२	अष्टम संस्करण	५,०००
सं०	२०२५	नवम संस्करण	५,०००
		कुल	४२,२५०

मूल्य पैंतालीस पैसे

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

प्रस्तावना

ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यकान्तर्गत द्वितीय आरण्यकके अध्याय ४, ५ और ६ का नाम ऐतरेयोपनिषद् है। यह उपनिषद् ब्रह्मविद्याप्रधान है। भगवान् शंकराचार्यने इसके ऊपर जो भाष्य लिखा है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके उपोद्घात-भाष्यमें उन्होंने मोक्षके हेतुका निर्णय करते हुए कर्म और कर्मसमुच्चित ज्ञानका निराकरण कर केवल ज्ञानको ही उसका एकमात्र साधन बतलाया है। फिर ज्ञानके अधिकारीका निर्णय किया है और बड़े समारोहके साथ कर्मकाण्डीके अधिकारका निराकरण करते हुए संन्यासीको ही उसका अधिकारी ठहराया है। वहाँ वे कहते हैं कि 'गृहस्थाश्रम' अपने गृहविशेषके परिग्रहका नाम है और यह कामनाओंके रहते हुए ही हो सकता है तथा ज्ञानीमें कामनाओंका सर्वथा अभाव होता है। इसलिये यदि किसी प्रकार चित्तशुद्धि हो जानेसे किसीको गृहस्था-श्रममें ही ज्ञान हो जाय तो भी कामनाशून्य हो जानेसे अपने गृहविशेषके परिग्रहका अभाव हो जानेके कारण उसे स्वतः ही भिक्षुकत्वकी प्राप्ति हो जायगी। आचार्यका मत है कि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' आदि श्रुतियाँ केवल अज्ञानियोंके लिये हैं, बोधवान्‌के लिये इस प्रकारकी कोई विधि नहीं की जा सकती।

इस प्रकार विद्वान्‌के लिये पारिव्राज्यकी अनिवार्यता दिखलाकर वे जिज्ञासुके लिये भी उसकी अवश्यकर्तव्यताका विधान करते हैं। इसके लिये उन्होंने 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्' 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' आदि श्रुति और 'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' 'ब्रह्माश्रमपदे वसेत्' आदि स्मृतियोंको उद्धृत किया है। ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्मचारीके लिये भी चतुर्थाश्रमका विधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि उसके विषयमें

यह शङ्का नहीं की जा सकती कि उसे ऋणत्रयकी निवृत्ति किये बिना संन्यासका अधिकार नहीं है; क्योंकि गृहस्थाश्रमको स्वीकार करनेसे पूर्व तो उसका ऋणी होना ही सम्भव नहीं है। अतः आचार्यका सिद्धान्त है कि जिसे आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा है और जो साध्य-साधनरूप अनित्य संसारसे मुक्त होना चाहता है, वह किसी भी आश्रममें हो, उसे संन्यास ग्रहण करना ही चाहिये।

इस सिद्धान्तके मुख्य आधार दो ही हैं—(१) जिज्ञासुको तो इसलिये गृहत्याग करना चाहिये कि उसके लिये गृहस्थाश्रममें रहते हुए ज्ञानोपयोगिनी साधनसम्पत्तिको उपार्जन करना कठिन है और (२) बोधवान्‌में कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसलिये उसका गृहस्थाश्रममें रहना सम्भव नहीं है। अतः ज्ञानोपयोगिनी साधन-सम्पत्तिको उपार्जन करना तथा कामनाओंका अभाव—ये दो गृहत्यागके मुख्य हेतु हैं। जो लोग घरमें रहते हुए ही शम-दमादि साधनसम्पन्न हो सकते हैं और जिन बोधवानोंकी निष्कामतामें अपने गृहविशेषमें रहना बाधक नहीं होता वे घरमें रहते हुए भी ज्ञानोपार्जन और ज्ञानरक्षा कर ही सकते हैं। वे स्वरूपसे संन्यासी न होनेपर भी वस्तुतः संन्यासधर्मसम्पन्न होनेके कारण आचार्यके मतका ही अनुसरण करनेवाले हैं। अस्तु।

इस उपनिषद्‌में तीन अध्याय हैं। उसमेंसे पहले अध्यायमें तीन खण्ड हैं तथा दूसरे और तीसरे अध्यायमें केवल एक एक खण्ड है। प्रथम अध्यायमें यह बतलाया गया है कि सृष्टिके आरम्भमें केवल एक आत्मा ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। उसने लोक-रचनाके लिये ईक्षण (विचार) किया और केवल सङ्कल्पसे ही अम्भ, मरीचि और मर—इन तीन लोकोंकी रचना की। इन्हें रचकर उस परमात्माने उनके लिये लोकपालोंकी रचना करनेका विचार किया और जलसे ही एक पुरुषकी रचनाकर उसे अवयवयुक्त किया। परमात्माके सङ्कल्पसे ही उस विराट् पुरुषके इन्द्रिय, इन्द्रियगोलक और इन्द्रियाधिष्ठाता

देव उत्पन्न हो गये । जब वे इन्द्रियाधिष्ठाता देवता इस महासमुद्रमें आये तो परमात्माने उन्हें भूख-प्याससे युक्त कर दिया । तब उन्होंने प्रार्थना की कि हमें कोई ऐसा आयतन प्रदान किया जाय जिसमें स्थित होकर हम अन्न-भक्षण कर सकें । परमात्माने उनके लिये एक गौका शरीर प्रस्तुत किया, किन्तु उन्होंने 'यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है' ऐसा कहकर उसे अस्वीकार कर दिया । तत्पश्चात् घोड़ेका शरीर लाया गया किन्तु वह भी अस्वीकृत हुआ । अन्तमें परमात्मा उनके लिये मनुष्यका शरीर लाया । उसे देखकर सभी देवताओंने एकस्वरसे उनका अनुमोदन किया और वे सब परमात्माको आज्ञासे उसके भिन्न-भिन्न अवयवों में वाक्, प्राण, चक्षु आदि रूपसे स्थित हो गये । फिर उनके लिये अन्नकी रचना की गयी । अन्न उन्हें देखकर भागने लगा । देवताओंने उसे वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्रादि भिन्न-भिन्न करणोंसे ग्रहण करना चाहा, परन्तु वे इसमें सफल न हुए । अन्तमें उन्होंने उसे अपानद्वारा ग्रहण कर लिया । इस प्रकार यह सारी सृष्टि हो जानेपर परमात्माने विचार किया कि अब मुझे भी इसमें प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि मेरे बिना यह सारा प्रपञ्च अकिञ्चित्कर ही है । अतः वह उस पुरुषकी मूर्द्धसीमाको विदीर्णकर उसके द्वारा उसमें प्रवेश कर गया । इस प्रकार जीवभावको प्राप्त होनेपर उसका भूतोंके साथ तादात्म्य हो जाता है । पीछे जब गुरुकृपासे बोध होनेपर उस अपने सर्वव्यापक शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार होता है तो उसे 'इदम्'—इस तरह अपरोक्षरूपसे देखनेके कारण उसकी 'इन्द्र' संज्ञा हा जाती है ।

इस प्रकार ईक्षणसे लेकर परमात्माके प्रवेशपर्यन्त जो सृष्टिक्रम बतलाया गया है, इसे ही विद्यारण्यस्वामीने ईश्वरसृष्टि कहा है । 'ईक्षणादिप्रवेशान्तः संसार ईशकल्पितः' । इस आख्यायिकामें बहुत-सी विचित्र बातें देखी जाती हैं । यों तो मायामें कोई भी बात कुतूहलजनक नहीं हुआ करती; तथापि आचार्यका तो कथन है कि यह केवल अर्थवाद है । इसका अभिप्राय आत्मबोध करानेमें है । यह केवल आत्माके अद्वितीयत्व-

का बोध करानेके लिये ही कही गयी है; क्योंकि समस्त संसार आत्मा-का ही सङ्कल्प होनेके कारण आत्मस्वरूप ही है। द्वितीय अध्यायके आरम्भमें इसी प्रकार उपक्रम कर भगवान् भाष्यकारने आत्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर और युक्तियुक्त विवेचन किया है।

इस अध्यायमें आत्मज्ञानके हेतुभूत वैराग्यकी सिद्धिके लिये जीवकी तीन अवस्थाओंका—जिन्हें प्रथम अध्यायमें 'आवसथ' नामसे कहा है—वर्णन किया गया है। जीवके तीन जन्म माने गये हैं—(१) वीर्य-रूपसे माताकी कुक्षिमें प्रवेश करना, (२) बालकरूपसे उत्पन्न होना और (३) पिताका मृत्युको प्राप्त होकर पुनः जन्म ग्रहण करना। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (कौषी० २।११) इस श्रुतिके अनुसार पिता और पुत्रका अभेद है; इसीलिये पिताके पुनर्जन्मको भी पुत्रका तृतीय जन्म बतलाया गया है। वामदेव ऋषिने गर्भमें रहते हुए ही अपने बहुत-से जन्मोंका अनुभव बतलाया था और यह कहा था कि मैं लोहमय दुर्गोंके समान सैकड़ों शरीरोंमें बंदी रह चुका हूँ; किन्तु अब आत्मज्ञान हो जानेसे मैं श्येन पक्षीके समान उनका भेदन कर बाहर निकल आया हूँ। ऐसा ज्ञान होनेके कारण ही वामदेव ऋषि देहपातके अनन्तर अमरपदको प्राप्त हो गये थे। अतः आत्माको भूत एवं इन्द्रिय आदि अनात्मप्रपञ्चसे सर्वथा असङ्ग अनुभव करना ही अमरत्व-प्राप्तिका एकमात्र साधन है।

इस प्रकार द्वितीय अध्यायमें आत्मज्ञानको परमपद-प्राप्तिका एक-मात्र साधन बतलाकर तीसरे अध्यायमें उसीका प्रतिपादन किया गया है। वहाँ बतलाया है कि हृदय, मन, संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु, असु, काम एवं वश—ये सब प्रज्ञानके ही नाम हैं। यह प्रज्ञान ही ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, समस्त देवगण, पञ्चमहाभूत तथा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज आदि सब प्रकारके जीव-जन्तु हैं। यही हाथी, घोड़े, मनुष्य तथा सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत है। इस प्रकार यह सारा संसार प्रज्ञानमें

स्थित है, प्रज्ञानसे ही प्रेरित होनेवाला है और स्वयं भी प्रज्ञानस्वरूप ही है तथा प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जो इस प्रकार जानता है वह इस लोकसे उत्क्रमण कर उस परमधाममें पहुँच समस्त कामनाओंको प्राप्तकर अमर हो जाता है।

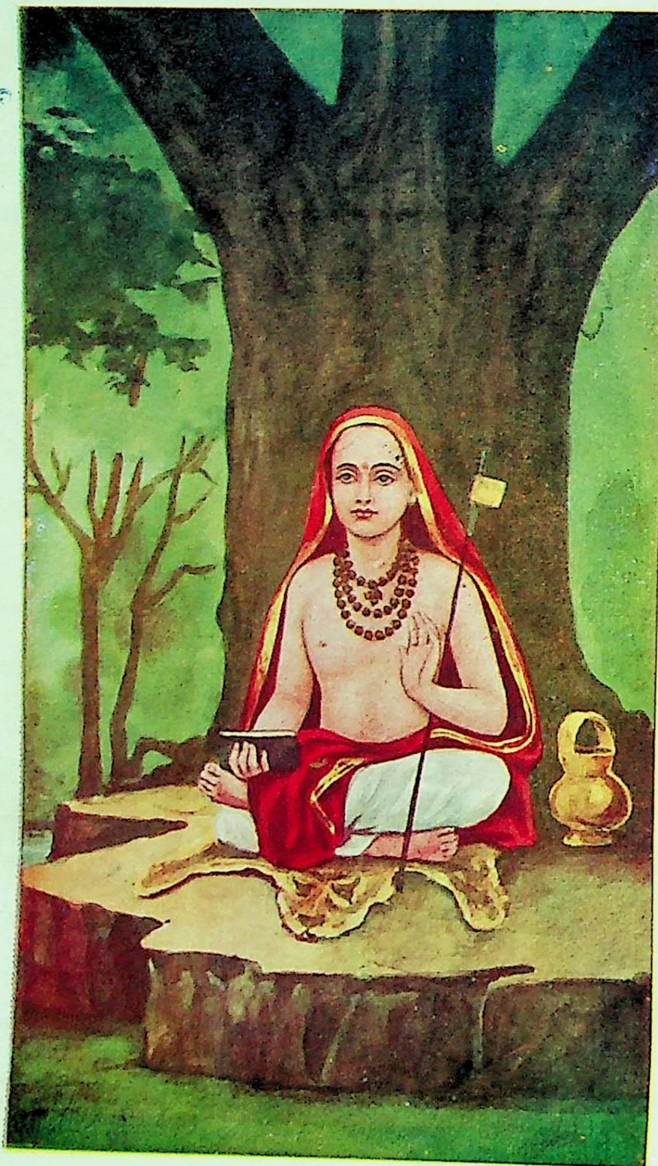
यही इस उपनिषद्का सारांश है। इसका प्रधान उद्देश्य ब्रह्मका सार्वात्म्य-प्रतिपादन ही है। आदिसे अन्ततक इसका यही उद्देश्य रहा है। प्रथम अध्यायमें देवताओंके आयतन याचना करनेपर उन्हें क्रमशः गौ और अश्वके शरीर दिखलाये गये; परंतु उन्हें वे अपने अनुरूप प्रतीत न हुए। उसके पश्चात् मनुष्य-शरीर दिखलाया गया। उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उसे ही अपने आयतनरूपसे स्वीकार भी किया। देवताओंकी उत्पत्ति विराट् शरीरके अवयवोंसे हुई थी; अतः विराट्के अनुरूप होनेके कारण उन्हें मानव-शरीर ही आयतनरूपसे ग्राह्य हुआ। इससे यही सिद्ध होता है कि मानव-शरीर ही जीवके परमकल्याण-का आश्रय है; उसमें स्थित होनेपर ही वह परमपद प्राप्त कर सकता है। अकारणकरुणामय श्रीभगवान्की कृपासे हमें वह परमलाभ प्राप्त करनेका सौभाग्य हुआ है, अतः हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि यह अत्यन्त दुर्लभ सुअवसर निष्फल न हो जाय।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची



श्रीश्रीशंकराचार्य

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ऐतरेयोपनिषद्

(ऋग्वेदीयैतरेयारण्यक २.४–६)

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

मनस्तापतमःशान्त्यै यस्य पादनखच्छटा ।
शरच्चन्द्रनिभा भाति तं वन्दे नीलचिन्मणिम् ॥

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता, मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविराविर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि, सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु, तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

मेरी वागिन्द्रिय मनमें स्थित हो, और मन वाणीमें स्थित हो। [अर्थात् मेरी वागिन्द्रिय और मन एक-दूसरेके अनुकूल रहें] । हे स्वप्रकाश परमात्मन् ! तुम मेरे समक्ष आविर्भूत होओ । [हे वाक् और मन !] तुम मेरे प्रति वेदको लाओ । मेरा श्रवण किया हुआ मेरा परित्याग न करे । अपने इस अध्ययनके द्वारा मैं रात और दिनको एक कर दूँ [अर्थात् मेरा अध्ययन अहर्निश चलता रहे] । मैं ऋत (वाचिक सत्य) का भाषण करूँ और सत्य (मनमें निश्चय किया हुआ सत्य) बोलूँ वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे, वह वक्ताकी रक्षा करे । वह मेरी रक्षा करे, और वक्ताकी रक्षा करे, वक्ताकी रक्षा करे । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथमोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

सम्बन्धभाष्य

परिसमाप्तं कर्म सहापरब्रह्मविषयविज्ञानेन। सैषा कर्मणो ज्ञानसहितस्य परा गतिरुक्थविज्ञानद्वारेणोपसंहृता। "एतत्सत्यं ब्रह्म प्राणाख्यम्" "एष एको देवः" "एतस्यैव प्राणस्य सर्वे देवा विभूतयः" "एतस्य प्राणस्यात्मभावं गच्छन्देवता अप्येति" इत्युक्तम्। सोऽयं देवताप्ययलक्षणः परः पुरुषार्थः, एष मोक्षः। स चायं यथोक्तेन

(मार्जिन: ग्रन्थस्य, प्रयोजनम्)

यहाँतक अपरब्रह्म (हिरण्यगर्भ) विषयक विज्ञान (उपासना) के सहित कर्मका निरूपण समाप्त हुआ*। उस ज्ञानसहित कर्मकी परा गतिका उक्थविज्ञानके† द्वारा उपसंहार किया गया है। [उस उपसंहारका मूलके वाक्योंद्वारा प्रदर्शन कराते हैं-] "यह प्राणसंज्ञक सत्यब्रह्म है" "यह एक देव है" 'सम्पूर्ण देव इस प्राणकी ही विभूतियाँ हैं।" "इस प्राणके तादात्म्यको प्राप्त होकर उपासक देवतामें लीन हो जाता है"—ऐसा कहा गया। यह देवतामें लय होना ही परम पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है और वह यह (देवतालयरूप मोक्ष)

* ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत द्वितीय आरण्यकके अध्याय ४, ५ और ६ का नाम ऐतरेयोपनिषद् है। इसमें केवल ब्रह्मविद्याका ही निरूपण किया गया है। इससे पूर्ववर्ती अध्यायोंमें अपर ब्रह्मकी उपासनाके सहित कर्मका वर्णन है। अतः इस वाक्यसे यहाँ उसका परामर्श किया है।

† उक्थ प्राणको कहते हैं। अतः 'वह उक्थ यानी प्राण मैं हूँ' ऐसी दृढ भावनाके द्वारा उसीमें लय हो जाना 'उक्थविज्ञान' है।

ज्ञानकर्मसमुच्चयसाधनेन प्राप्तव्यो नातः परमस्तीत्येके प्रतिपन्नाः । तान्निराचिकीर्षुरुत्तरं केवलात्मज्ञानविधानार्थम् 'आत्मा वा इदम्' इत्याद्याह ।

इस ज्ञानकर्मसमुच्चयरूप यथोक्त साधनसे ही प्राप्त होने योग्य है; इससे परे और कुछ नहीं है—ऐसा कुछ लोग समझते हैं। उन [समुच्चयवादियोंके मत] का निराकरण करनेकी इच्छासे श्रुति केवल आत्मविज्ञानका विधान करनेके लिये 'आत्मा वा इदम्' इत्यादि ग्रन्थका उल्लेख करती है।

प्रतिपाद्य-विचारः

कथं पुनरकर्मसम्बन्धिकेवलात्मविज्ञानविधानार्थ उत्तरो ग्रन्थ इति गम्यते ?

पूर्व०—परन्तु यह कैसे ज्ञात होता है कि आगेका ग्रन्थ कर्मके सम्बन्धसे रहित केवल आत्मज्ञानका ही विधान करनेके लिये है ?

अन्यार्थानवगमात् । तथा च पूर्वोक्तानां देवतानामग्न्यादीनां संसारित्वं दर्शयिष्यत्यशनायादिदोषवत्त्वेन "तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत्" (१।२।१) इत्यादिना । अशनायादिमत्सर्वं संसार एव; परस्य तु ब्रह्मणोऽशनायाद्यत्ययश्रुतेः ।

सिद्धान्ती—क्योंकि इससे [ब्रह्मज्ञानके सिवा] किसी और अर्थका ज्ञान नहीं होता । इसके सिवा श्रुति 'उसे भूख और पिपासासे युक्त कर दिया" इत्यादि वाक्योंसे उन अग्नि आदि पूर्वोक्त देवताओंको क्षुधा आदि दोषोंसे युक्त दिखलाते हुए उनका संसारित्व भी प्रदर्शित करेगी । परब्रह्म भूख-प्यास आदिसे अतीत है—ऐसी श्रुति होनेके कारण क्षुधा आदिसे युक्त तो सब-का-सब संसार ही है ।

समुच्चयवादिन आक्षेपः

भवत्वेवं केवलात्मज्ञानं मोक्षसाधनं न त्वकर्म्येवाधिक्रियते,

पूर्व०—इस प्रकार केवल आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन भले ही हो; परन्तु उसमें केवल कर्मत्यागी पुरुषका ही अधिकार नहीं है, क्योंकि इस

विशेषाश्रवणात्। अकर्मिण आश्रम्यन्तरस्येहाश्रवणात् । कर्म च बृहतीसहस्रलक्षणं प्रस्तुत्यानन्तरमेवात्मज्ञानं प्रारभ्यते । तस्मात् कर्म्येवाधिक्रियते ।

विषयमें कोई विशेष श्रुति नहीं है; अर्थात् किसी कर्मत्यागी आश्रमान्तरका यहाँ उल्लेख नहीं है । और बृहतीसहस्र नामक कर्मकी अवतारणाकर उसके अनन्तर ही आत्मज्ञानका प्रारम्भ कर दिया है । अतः इसमें कर्मठ पुरुषका ही अधिकार है ।

न च कर्मासंबन्ध्यात्मविज्ञानं पूर्ववदन्त उपसंहारात् । यथा कर्मसंबन्धिनः पुरुषस्य सूर्यात्मनः स्थावरजङ्गमादिसर्वप्राण्यात्मत्वमुक्तं ब्राह्मणेन मन्त्रेण च "सूर्य आत्मा" (ऋ० सं० १।११५।१) इत्यादिना, तथैव 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (३ । १ । ३) इत्याद्युपक्रम्य सर्वप्राण्यात्मत्वम् 'यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्, (३ । १ । ३) इत्युपसंहरिष्यति ।

इसके सिवा आत्मज्ञान कर्मसे सर्वथा असम्बद्ध भी नहीं है, क्योंकि यहाँ भी अन्तमें उसका पहलेहीके समान उपसंहार किया गया है । जिस प्रकार ब्राह्मणमन्त्रने "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च[1]" इस वाक्यद्वारा सूर्यके आत्मभावको प्राप्त हुए [सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती] कर्मसम्बन्धी पुरुषको स्थावरजङ्गमादि सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा बतलाया है उसी प्रकार श्रुति 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः[2]' इत्यादि मन्त्रसे समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूपत्वका उपक्रम कर उसका 'यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्'[3] इत्यादि वाक्यद्वारा उपसंहार करेगी ।*

१. सूर्य जङ्गम और स्थावरका आत्मा है । २. यह ब्रह्म है, यह इन्द्र है । ३. जो कुछ स्थावर-जङ्गम है वह सब प्रज्ञा (चेतन) द्वारा प्रवृत्त होनेवाला है ।

* इस प्रकार जैसे पूर्व अध्यायमें कर्मसम्बन्धी उपासनाका विषय होनेसे

तथा च संहितोपनिषदि "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते" (ऐ० आ० ३ । २ । ३ । १२) इत्यादिना कर्मसंबन्धित्वमुक्त्वा "सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते" इत्युपसंहरति । तथा तस्यैव "योऽयमशरीरः । प्रज्ञात्मा" इत्युक्तस्य "यश्चासावादित्य एकमेव तदिति विद्यात्" इत्येकत्वमुक्तम् । इहापि "कोऽयमात्मा" (३ । १ । १) इत्युपक्रम्य प्रज्ञात्मत्वमेव "प्रज्ञानं ब्रह्म" (३ । १ । ३) इति दर्शयिष्यति । तस्मान्नाकर्मसंबन्ध्यात्मज्ञानम् ।

इसी प्रकार संहितोपनिषद्में भी "इसीको बह्वृच (ऋग्वेदी) बृहतोसहस्र नामक सत्रमें विचारते हैं" इत्यादि श्रुतिसे उसका कर्मसम्बन्धित्व प्रतिपादन कर "सम्पूर्ण भूतोंमें इसीको 'ब्रह्म' ऐसा कहते हैं" इस प्रकार उपसंहार किया है । तथा "जो यह अशरीरी चेतन आत्मा है" इस प्रकार बतलाये हुए उस आत्माका ही "जो यह सूर्यके अन्तर्गत है वह एक ही है—ऐसा जाने" इस वाक्यद्वारा एकत्व प्रतिपादन किया है । तथा यहाँ (इस उपनिषद्में) भी "यह आत्मा कौन है" इस प्रकार उपक्रम कर "प्रज्ञान ब्रह्म है" इस वाक्यसे इसका प्रज्ञास्वरूपत्व ही प्रदर्शित करेंगे । अतः आत्मज्ञान कर्मत्यागसे संबन्ध नहीं रखता ।

पुनरुक्त्यानर्थक्यमिति चेत् । कथम् ? "प्राणो वा अहमस्म्यृषे" इत्यादिब्राह्मणेन "सूर्य आत्मा"

यदि कहो कि पुनरुक्ति होनेके कारण तो यह प्रकरण व्यर्थ ही है ।* किस प्रकार [व्यर्थ है सो बतलाते हैं—] "हे ऋषे ! मैं निश्चय प्राण ही हूँ" इत्यादि ब्राह्मणसे तथा "सूर्य आत्मा है"

अन्तमें उपास्यका सर्वात्मत्व प्रतिपादन किया है उसी प्रकार इस अध्यायमें 'एष ब्रह्मा' इत्यादि वाक्योंसे बतलाया गया है । अतः जिस प्रकार वह देवताज्ञान कर्मसम्बन्धी था उसी प्रकार यह आत्मज्ञान भी कर्मसम्बन्धी ही है—ऐसा अनुमान होता है ।

* क्योंकि कर्मका तो पहले ही निरूपण किया जा चुका है ।

इति मन्त्रेण च निर्धारितस्यात्मनः "आत्मा वा इदम्" इत्यादिब्राह्मणेन "कोऽयमात्मा" (३ । १ । १) इति प्रश्नपूर्वकं पुनर्निर्धारणं पुनरुक्तमनर्थकमिति चेत्, न; तस्यैव धर्मान्तरविशेषनिर्धारणार्थत्वान्न पुनरुक्ततादोषः।

कथम् ? तस्यैव कर्मसंबन्धिनो जगत्सृष्टिस्थितिसंहारादिधर्मविशेषनिर्धारणार्थत्वात् केवलोपास्त्यर्थत्वाद्वा। अथवा आत्मेत्यादिपरो ग्रन्थसन्दर्भ आत्मनः कर्मिणः कर्मणोऽन्यत्रोपासनाप्राप्तौ कर्मप्रस्तावेऽविहितत्वात्केवलोऽप्यात्मोपास्य इत्येवमर्थः। भेदाभेदोपास्यत्वाद्वैक एवात्मा

इत्यादि मन्त्रद्वारा निश्चित किये आत्माका "यह आत्मा कौन है" इस प्रकार प्रश्न करके "[पहले] यह सब आत्मा ही [था]" इस प्रकार निश्चय करना पुनरुक्ति और निरर्थक ही है—यदि कोई ऐसा कहे तो उसका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसीके किसी अन्य विशेष धर्मका निश्चय करनेके लिये होनेसे इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं है।

वह किस प्रकार दोषयुक्त नहीं है [सो बतलाते हैं—] उस कर्मसम्बन्धी आत्माके ही जगत्‌की रचना, पालन और संहार आदि विशेष धर्मोंका निर्धारण करनेके लिये किंवा केवल उसकी उपासनाके [निरूपणके] लिये [इस प्रकारकी पुनरुक्ति सदोष नहीं है] अथवा यों समझो कि कर्मका निरूपण करते समय विधान न करनेके कारण कर्मी आत्माकी उपासना कर्मको छोड़कर प्राप्त नहीं होती थी, अतः "आत्मा वा इदमग्रे" आदि ग्रन्थसमूह यह बतलानेके लिये ही है कि केवल आत्मा भी उपासनीय है। भेद और अभेदरूपसे उपास्य होनेके कारण एक ही आत्मा कर्मके विषयमें

कर्मविषये भेददृष्टिभाक्, स एवाकर्मकालेऽभेदेनाप्युपास्य इत्येवमपुनरुक्तता।

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह। अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति, "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (ई० उ० २) इति च वाजिनाम्। न च वर्षशतात्परमायुर्मर्त्यानाम्। येन कर्मपरित्यागेनात्मानमुपासीत। दर्शितं च "तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति" इति। वर्षशतं चायुः कर्मणैव व्याप्तम्। दर्शितश्च मन्त्रः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादिः।

भेददृष्टिसे युक्त है और वही कर्मदृष्टिको छोड़ देनेके समय अभेदरूपसे भी उपासनीय है—इस प्रकार यह अपुनरुक्ति ही है।

"जो पुरुष विद्या (उपासना) और अविद्या (कर्म) इन दोनोंको साथ-साथ जानता है वह अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है" तथा "इस लोकमें कर्म करता हुआ ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे"—ऐसा [ईशोपनिषद्में] वाजसनेयी शाखावालोंका कथन है। मनुष्योंका परमायु भी सौ वर्षसे अधिक नहीं है, जिससे कि वह कर्मपरित्यागद्वारा आत्माकी उपासना कर सके। "पुरुषकी आयुके इतने (छत्तीस) ही* सहस्र दिन होते हैं" ऐसा [इस ऐतरेयारण्यकमें ही] दिखलाया भी गया है। और वह सौ वर्षकी आयु कर्मसे ही व्याप्त है; इसके लिये "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि मन्त्र पहले दिखलाया ही है।†

* ऐतरेय आरण्यकमें छत्तीस-छत्तीस अक्षरके एक सहस्र बृहतीछन्द हैं। अतः उसमें कुल छत्तीस सहस्र अक्षर हुए। इतने ही दिन मनुष्यकी परमायुमें होते हैं।

† इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशरथादिके समान जो सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहनेवाले पुरुष हैं वे तो सौ वर्षसे ऊपर जानेपर कर्मत्याग कर ही सकते हैं। उनके लिये भी आगेकी श्रुतियाँ जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता बतलाती हैं।

तथा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्याद्याश्च । "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" इति च । ऋणत्रयश्रुतेश्च । तत्र पारिव्राज्यादि शास्त्रं "व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ० उ० ३ । ५ । १, ४ । ४ । २२) इति आत्मज्ञानस्तुतिपरोऽर्थवादः । अनधिकृतार्थो वा ।

न; परमार्थविज्ञाने फलादर्शने क्रियानुपपत्तेः । य-

आक्षेपनिरासः

दुक्तं कर्मिण आत्मज्ञानं कर्मसंबन्धि च इत्यादि तन्न । परं ह्याप्तकामं सर्वसंसारदोषवर्जितं ब्रह्माहमस्मीत्यात्मत्वेन विज्ञाने, कृतेन कर्तव्येन वा प्रयोजनमात्मनो-

ऐसा ही "यावज्जीवन अग्निहोत्र करता है" "जीवनपर्यन्त दर्श-पूर्णमाससे यजन करे" इत्यादि तथा [वृद्धावस्थामें भी कर्मत्यागका निषेध सूचित करनेवाली] "उसको [करनेके अनन्तर] यज्ञपात्रोंके सहित जलाते हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे और ऋणत्रयकी सूचना देनेवाली श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । श्रुतिमें जो "[यतिजन] सर्वसंग परित्याग करके भिक्षाटन किया करते हैं" इत्यादि संन्याससम्बन्धी शास्त्र है वह आत्मज्ञानकी स्तुति करनेवाला अर्थवाद है । अथवा जिसे कर्मका अधिकार नहीं है उसके लिये है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस परमार्थ—आत्म-तत्त्वका ज्ञान हो जानेपर क्रियाका कोई फल नहीं देखा जाता; इसलिये क्रिया नहीं हो सकती । तुमने जो कहा कि आत्मज्ञान कर्मीको ही होता है और वह कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला है, सो ठीक नहीं । 'सम्पूर्ण सांसारिक दोषोंसे रहित पूर्णकाम ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार ब्रह्मका आत्मभावसे ज्ञान हो जानेपर कर्म-फलको न देखनेके कारण कृत अथवा कर्तव्यसे अपना कोई प्रयोजन

ऽपश्यतः फलादर्शने क्रिया नोपपद्यते ।

फलादर्शनेऽपि नियुक्तत्वा- आत्मदर्शिनो त्करोतीति चेन्न नियोगाविषयत्वम् नियोगाविषयात्मदर्शनात् । इष्टयोगमनिष्टवियोगं चात्मनः प्रयोजनं पश्यंस्तदुपायार्थी यो भवति स नियोगस्य विषयो दृष्टो लोके । न तु तद्विपरीतनियोगाविषयब्रह्मात्मत्वदर्शी ।

ब्रह्मात्मत्वदर्श्यपि संश्चेन्नियुज्येत नियोगाविषयोऽपि सन्न कश्चिन्न नियुक्त इति सर्वं कर्म सर्वेण सर्वदा कर्तव्यं प्राप्नोति । तच्चानिष्टम् । न च स नियोक्तुं शक्यते केनचित्; आम्नायस्यापि तत्प्रभवत्वात् । न हि

न देखनेवाले पुरुषसे कोई क्रिया नहीं हो सकती ।

यदि कहो कि फल दिखायी न देनेपर भी शास्त्राज्ञा होनेके कारण वह कर्म करता ही है तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि वह शास्त्राज्ञाके अविषयभूत आत्माका दर्शन कर लेता है । जो पुरुष अपना इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहाररूप प्रयोजन देखकर उसके उपायका अर्थी होता है, लोकमें वही [विधि-निषेधरूप] नियोगका विषय होता देखा गया है; उसके विपरीत नियोगके अविषयभूत ब्रह्ममें आत्मत्वका दर्शन करनेवाला पुरुष नियोगका विषय होता नहीं देखा जाता ।

यदि ब्रह्मात्मत्व-दर्शन करनेवाला पुरुष नियोगका अविषय होनेपर भी शास्त्रसे नियुक्त हो तो कोई नियुक्त न होनेवाला तो रहा ही नहीं । इससे यही प्राप्त होता है कि सबको सर्वदा सम्पूर्ण कर्म करते रहना चाहिये । किन्तु यह अभीष्ट नहीं है । वह (आत्मदर्शी) तो किसीसे भी नियोजित नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र भी उसीसे उत्पन्न हुआ है । अपने विज्ञानसे

स्वविज्ञानोत्थेन वचसा स्वयं नियुज्यते । नापि बहुवित्स्वाम्यविवेकिना भृत्येन ।

आम्नायस्य नित्यत्वे सति स्वातन्त्र्यात्सर्वान्प्रति नियोक्तृत्वसामर्थ्यमिति चेन्न उक्तदोषात् । तथापि सर्वेण सर्वदा सर्वमविशिष्टं कर्म कर्तव्यमित्युक्तो दोषोऽप्यपरिहार्य एव ।

तदपि शास्त्रेणैव विधीयत इति चेद् यथाकर्मकर्तव्यता शास्त्रेण कृता तथा तदप्यात्मज्ञानं तस्यैव कर्मिणः शास्त्रेण विधीयत इति चेत्, न; विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तेः । न ह्येकस्मिन्कृताकृतसंबन्धित्वं तद्विपरीतत्वं च बोधयितुं शक्यम्, शीतोष्णतामिवाग्नेः ।

शास्त्रस्य विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तिः

उत्पन्न हुए वचनसे हो कोई स्वयं नियुक्त नहीं हो सकता और न बहुज्ञ स्वामी ही अपने अल्पज्ञ सेवकसे नियुक्त हो सकता है ।

यदि कहो कि नित्य होनेके कारण वेदका नियोक्तृत्व-सामर्थ्य स्वतन्त्रतापूर्वक सबके प्रति है, तो उपर्युक्त दोषके कारण ऐसा कहना ठीक नहीं । ऐसी अवस्थामें भी 'सबको सर्वदा सब कर्म समानरूपसे करने चाहिये'—यह ऊपर बतलाया हुआ दोष अपरिहार्य ही रहता है ।

यदि कहो कि उसका विधान भी शास्त्रने ही किया है अर्थात् जिस प्रकार शास्त्रने कर्मकी कर्तव्यता बतलायी है उसी प्रकार उस कर्मीके लिये ही उस आत्मज्ञानका भी शास्त्रने ही विधान किया है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि उसका विरुद्ध-अर्थ-बोधकत्व सम्भव नहीं है । अग्निकी शीतलता और उष्णताके समान एक ही शास्त्रमें पाप-पुण्यके सम्बन्धित्व और उसके विपरीतत्वका बोध कराना—[ये दोनों विरुद्धधर्म] सम्भव नहीं हैं ।

न चेष्टयोगचिकीर्षा आत्मनोऽनिष्टवियोगचिकी-

सिद्धवस्तुनः

र्षा च शास्त्रकृता,

शास्त्रबोध्यत्वम्

सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात्। शास्त्रकृतं चेत्तदुभयं गोपालादीनां न दृश्येत, अशास्त्रज्ञत्वात्तेषाम्। यद्धि स्वतोऽप्राप्तं तच्छास्त्रेण बोधयितव्यम्। तच्चेत्कृतकर्तव्यताविरोध्यात्मज्ञानं शास्त्रेण कृतम्, कथं तद्विरुद्धां कर्तव्यतां पुनरुत्पादयेच्छाततामिवाग्नौ तम इव च भानौ।

न बोधयत्येवेति चेन्न, "स म आत्मेति विद्यात्" (कौ० उ० ३।९) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (३।१।३) इति चोपसंहारात्। "तदात्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १।४।९) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८–१६) इत्येवमादिवाक्यानां तत्परत्वात्। उत्पन्नस्य

इसके सिवा अपनी इष्टवस्तुके संयोगकी इच्छा तथा अनिष्ट पदार्थके परित्यागकी अभिलाषा भी शास्त्रजनित नहीं है; क्योंकि यह सभी प्राणियोंमें [स्वभावसे ही] देखी जाती है। यदि शास्त्रजनित होती तो ये दोनों इच्छाएँ ग्वाले आदिमें दिखायी न देतीं; क्योंकि वे अशास्त्रज्ञ होते हैं। जो वस्तु स्वतः प्राप्त नहीं होती वही शास्त्रद्वारा बोद्धव्य होती है। इस प्रकार यदि शास्त्रने कृत और कर्तव्यताके विरोधी आत्मज्ञानका उपदेश किया है तो फिर वह अग्निमें शीतलताके समान तथा सूर्यमें अन्धकारके समान उसकी विरुद्ध कर्तव्यताको किस प्रकार उत्पन्न करेगा ?

यदि कहो कि वह ऐसा बोध कराता ही नहीं है तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि "वह मेरा आत्मा है—ऐसा जाने" तथा "प्रज्ञान ही ब्रह्म है" इस प्रकार उपसंहार किया गया है, तथा "उस (जीवरूपसे अवस्थित ब्रह्म) ने अपनेको ही जाना" "वह तू ही है" इत्यादि वाक्य भी आत्मज्ञानपरक ही हैं। उत्पन्न हुआ ब्रह्मात्मविज्ञान

च ब्रह्मात्मविज्ञानस्याबाध्यमानत्वान्नानुत्पन्नं भ्रान्तं वेति शक्यं वक्तुम् ।

त्यागेऽपि प्रयोजनाभावस्य तुल्यत्वमिति चेत्

प्रयोजनाभावे

संन्यासस्य "नाकृतेनेह कश्चन"

स्वतःसिद्धत्वम्

(गीता ३ । १८) इति स्मृतेः, य आहुर्विदित्वा ब्रह्म व्युत्थानमेव कुर्यादिति तेषामप्येष समानो दोषः प्रयोजनाभाव इति चेन्न; अक्रियामात्रत्वाद् व्युत्थानस्य। अविद्यानिमित्तो हि प्रयोजनस्य भावो न वस्तुधर्मः सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात्। प्रयोजनतृष्णया च प्रेर्यमाणस्य वाङ्मनःकायैः प्रवृत्तिदर्शनात् । "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इत्यादिना पुत्रवित्तादि पाङ्क्तलक्षणं काम्यमेवेति 'उभे ह्येते

भी बाधित होने योग्य न होनेके कारण अनुत्पन्न या भ्रान्तिजनित नहीं कहा जा सकता ।

यदि कहो कि "उसे इस लोकमें अकृत (कर्मत्याग) से भी कोई प्रयोजन नहीं है" इस स्मृतिके अनुसार बोधवान्‌को त्याग करनेमें भी प्रयोजनाभावकी समानता ही है; अर्थात् जो लोग कहते हैं कि ब्रह्मको जानकर व्युत्थान (कर्मत्याग) ही करना चाहिये उनके लिये भी यह प्रयोजनाभावरूप दोष समान ही है, तो उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि व्युत्थान तो अक्रिया ही है * । प्रयोजनका भाव तो अविद्याके कारण रहता है । वह वस्तुका धर्म नहीं है, क्योंकि यह बात सभी प्राणियोंमें देखी जाती है; अर्थात् प्रयोजनकी तृष्णासे प्रेरित होते हुए प्राणियोंकी वाणी, मन और शरीरद्वारा प्रवृत्ति होती देखी गयी है तथा वाजसनेयी ब्राह्मणमें भी "उस (आदिपुरुष) ने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो" इत्यादि कथनके द्वारा "ये दोनों (साध्य–साधनरूप)

* प्रयोजन तो क्रियाके लिये अपेक्षित होता है; इसलिये अक्रियारूप व्युत्थानके लिये किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है ।

एषणे एव" (बृ० उ० ३ । ५ । १; ४ । ४ । २२) इति वाजसनेयिब्राह्मणेऽवधारणात् ।

एषणाएँ ही हैं" इस निश्चयके अनुसार यही ज्ञात होता है कि पुत्र-वित्तादि पाङ्क्तलक्षण* कर्म काम्य ही है ।

अविद्याकामदोषनिमित्ताया वाङ्मनःकायप्रवृत्तेः पाङ्क्तलक्षणाया विदुषोऽविद्यादिदोषाभावादनुपपत्तेः क्रियाभावमात्रं व्युत्थानम्, न तु यागादिवदनुष्ठेयरूपं भावात्मकम् । तच्च विद्यावत्पुरुषधर्म इति न प्रयोजनमन्वेष्टव्यम् । न हि तमसि प्रवृत्तस्योदित आलोके यद्गर्तपङ्ककण्टकाद्यपतनं तत्किंप्रयोजनमिति प्रश्नार्हम् ।

अतः विद्वान्के अविद्या आदि दोषोंका अभाव हो जानेके कारण अविद्या एवं कामनारूप दोषसे होनेवाली मन, वाणी और शरीरका पाङ्क्तरूपा प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं है; इसलिये व्युत्थान क्रियाका अभावमात्र है, वह यागादिके समान अनुष्ठेयरूप और भावात्मक नहीं है । वह तो विद्यावान् पुरुषका धर्म ही है; अतः उसके लिये किसी प्रयोजनका अन्वेषण करनेकी आवश्यकता नहीं है । अन्धकारमें प्रवृत्त होनेवाला पुरुष यदि प्रकाशके उदित होनेपर गड्ढे, कीचड़ और काँटे आदिमें नहीं गिरता तो 'इस (उसके न गिरने) का क्या प्रयोजन है ?' ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता ।

व्युत्थानं तर्ह्यर्थप्राप्तत्वान्न चोदनार्हमिति गार्हस्थ्ये चेत्परं ब्रह्मविज्ञानं जातं तत्रै-

कामाभावे आत्मज्ञस्यापि गार्हस्थ्यानुपपत्तिः

तब तो स्वभावतः प्राप्त होनेके कारण व्युत्थान चोदना (विधिवाक्य) का विषय नहीं है । इसपर यदि कहो कि यदि किसीको गृहस्थाश्रममें ही परब्रह्मका ज्ञान हो जाय तो उसे

* पंक्ति छन्द पाँच अक्षरका होता है । उससे सदृशता होनेके कारण जिस कर्ममें पत्नी, पुत्र, दैववित्त, मानुषवित्त और कर्म इन पाँच साधनोंका योग होता है वह पाङ्क्त कर्म कहलाता है ।

वास्त्वकुर्वत आसनं न ततोऽन्यत्र गमनमिति चेन्न, कामप्रयुक्तत्वाद्गार्हस्थ्यस्य; "एतावान्वै कामः" (बृ० उ० १।४।१७) इति "उभे ह्येते एषणे एव" (बृ० उ० ३।५।१; ४।४।२२) इत्यवधारणात्। कामनिमित्तपुत्रवित्तादिसंबन्धनियमाभावमात्रं न हि ततोऽन्यत्र गमनं व्युत्थानमुच्यते। अतो न गार्हस्थ्य एवाकुर्वत आसनमुत्पन्नविद्यस्य। एतेन गुरुशुश्रूषातपसोरप्यप्रतिपत्तिर्विदुषः सिद्धा।

उस आश्रममें ही कुछ न करते हुए बैठा रहना चाहिये, वहाँसे कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिये, तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि "इतनी ही कामना है" "ये दोनों एषणाएँ ही हैं" इत्यादि वाक्योंसे निश्चित किया जानेके कारण गृहस्थाश्रम तो कामनासे ही प्रयुक्त है। कामनाके निमित्तभूत पुत्र-वित्तादिके सम्बन्धके नियमका अभावमात्र ही 'व्युत्थान' है; उनके पाससे कहीं अन्यत्र चला जाना 'व्युत्थान' नहीं कहा जाता। अतः जिसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसके लिये कुछ करते हुए गृहस्थाश्रममें ही स्थित रहना सम्भव नहीं है। इससे विद्वान्के लिये गुरुशुश्रूषा और तपस्याकी भी अनुपपत्ति सिद्ध होती है।

गृहस्थानामाक्षेपः

अत्र केचिद् गृहस्था भिक्षाटनादिभयात्परिभवाच्च त्रस्यमानाः सूक्ष्मदृष्टितां दर्शयन्त उत्तरमाहुः भिक्षोरपि भिक्षाटनादिनियमदर्शनाद्देहधारणमात्रार्थिनो गृह-

इस विषयमें कोई-कोई गृहस्थ पुरुष भिक्षाटनादिके भय और तिरस्कारसे डरनेके कारण अपनी सूक्ष्मदर्शिता प्रकट करते हुए उत्तर देते हैं—'केवल देहधारणमात्रके इच्छुक भिक्षुके लिये भी भिक्षाटनादिका नियम देखा जाता है; अतः

स्थस्यापि साध्यसाधनैषणोभयवि-निर्मुक्तस्य देहमात्रधारणार्थमश-नाच्छादनमात्रमुपजीवतो गृह एवास्त्वासनमिति ।

[पुत्र-वित्तादि] साध्य और [कर्म-उपासना आदि] साधन दोनोंकी एषणाओंसे मुक्त हुए केवल देह-धारणके लिये भोजनाच्छादनमात्रसे निर्वाह करनेवाले गृहस्थको भी घरहीमें रहना चाहिये ।'

तस्य निरासः

न, स्वगृहविशेषपरिग्रहनियमस्य कामप्रयुक्तत्वादित्युक्तोत्तरमेतत् । स्वगृहविशेषपरिग्रहाभावे च शरीरधारणमात्रप्रयुक्ताशनाच्छादनार्थिनः स्वपरिग्रहविशेषाभावेऽर्थाद्भिक्षुकत्वमेव ।

परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि अपने गृहविशेषके परिग्रहका नियम कामनाप्रयुक्त ही है—इस प्रकार इसका उत्तर पहले दिया ही जा चुका है । और अपने गृह-विशेषके परिग्रहका अभाव होनेपर तो केवल शरीरधारणमात्रके लिये भोजनाच्छादनकी इच्छा करनेवाले पुरुषको अपने परिग्रह-विशेषका अभाव होनेके कारण स्वतः भिक्षुत्व ही प्राप्त हो जाता है ।

विद्वन्न्यास-विचारः

शरीरधारणार्थायां भिक्षाटनादिप्रवृत्तौ यथा नियमो भिक्षोः शौचादौ च, तथा गृहिणोऽपि विदुषोऽकामिनोऽस्तु नित्यकर्मसु नियमेन प्रवृत्तिर्यावज्जीवादिश्रुति-नियुक्तत्वात् प्रत्यवायपरिहारायेति । एतन्नियोगाविषयत्वेन

जिस प्रकार भिक्षुके लिये शरीर-रक्षामें उपयोगी भिक्षाटनादिकी प्रवृत्ति एवं शौचादिका नियम है उसी प्रकार विद्वान् और निष्काम गृहस्थको भी 'यावज्जीवादि' श्रुतिसे नियुक्त होनेके कारण प्रत्यवायकी निवृत्तिके लिये नित्यकर्मोंमें नियमसे प्रवृत्ति हो सकती है [ऐसा यदि कोई कहे तो] इस कथनका तो पहले ही प्रतिवाद किया जा चुका है; क्योंकि नियोगका

विदुषः प्रत्युक्तमशक्यनियोज्यत्वाच्चेति ।

अविषय होनेके कारण विद्वान् नियुक्त नहीं किया जा सकता ।

यावज्जीवादिनित्यचोदनानर्थक्यमिति चेत् ?

पूर्व०—तब तो 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि नित्य विधिकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है ।

न, अविद्वद्विषयत्वेनार्थवत्त्वात् । यत्तु भिक्षोः शरीरधारणमात्रप्रवृत्तस्य प्रवृत्तिनियतत्वं तत्प्रवृत्तेर्न प्रयोजकम् । आचमनप्रवृत्तस्य पिपासापगमवन्नान्यप्रयोजनार्थत्वमवगम्यते । न चाग्निहोत्रादीनां तद्वदर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियतत्वोपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—नहीं, अविद्वान्-विषयक होनेके कारण वह सार्थक है । केवल शरीरधारणमात्रके लिये भिक्षाटनादिमें प्रवृत्त हुए यतिकी प्रवृत्तिका जो नियतत्व है वह प्रवृत्तिका प्रयोजक नहीं है । आचमनमें प्रवृत्त हुए पुरुषकी पिपासानिवृत्तिके समान उसके भिक्षाटनादिका [क्षुधानिवृत्ति आदिके सिवा] कोई अन्य प्रयोजन नहीं समझा जाता । परन्तु इसके समान अग्निहोत्रादि कर्मोंका स्वतःप्राप्त प्रवृत्तिको नियत करना नहीं माना जा सकता ।*

अर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियमोऽपि प्रयोजनाभावेऽनुपपन्न एवेति चेत् ?

पूर्व०—परन्तु प्रयोजनका अभाव हो जानेपर तो स्वतःप्राप्त प्रवृत्तिका नियम भी व्यर्थ ही है ?

न, तन्नियमस्य पूर्वप्रवृत्तिसिद्धत्वात्तदतिक्रमे यत्नगौरवात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह [भिक्षाटनादिका] नियम पूर्वप्रवृत्तिसे सिद्ध होनेके कारण उसके उल्लङ्घनमें अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता है ।

* क्योंकि वे तो स्वर्गादिकी कामनासे ही किये जाते हैं, उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं है ।

अर्थप्राप्तस्य व्युत्थानस्य पुनर्वचनाद्विदुषः कर्तव्यत्वोपपत्तिः । अविदुषापि मुमुक्षुणा पारिव्राज्यं कर्तव्यमेव ।

विविदिषा-संन्यासविधानम्

तथा च "शान्तो दान्तः" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इत्यादिवचनं प्रमाणम् । शमदमादीनां चात्मदर्शनसाधनानामन्याश्रमेष्वनुपपत्तेः । "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्" (६ । २१) इति च श्वेताश्वतरे विज्ञायते । "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कैवल्य० २) इति च कैवल्यश्रुतिः । "ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्" इति च स्मृतेः । "ब्रह्माश्रमपदे वसेत्" इति च

और स्वभावतः प्राप्त व्युत्थानका ["व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" आदि वाक्योंसे] पुनः विधान किया गया है, इसलिये विद्वान् मुमुक्षुके लिये उसकी कर्तव्यता उचित ही है। जिस मुमुक्षुको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उसे भी संन्यास करना ही चाहिये। इस विषयमें "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः" आदि वचन प्रमाण हैं। तथा आत्मदर्शनके साधन शम-दमादिका अन्य आश्रमोंमें होना सम्भव भी नहीं है, जैसा कि "मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा भलीप्रकार सेवित उस परम पवित्र तत्त्वका परमहंसोंको उपदेश किया" इत्यादि मन्त्रोंसे श्वेताश्वतरोपनिषद्में बतलाया गया है, तथा "कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं बल्कि त्यागसे ही किन्हीं-किन्हींने अमरत्व प्राप्त किया है" ऐसी कैवल्योपनिषद्की श्रुति भी है। और "ज्ञान प्राप्तकर नैष्कर्म्यका आचरण करे" इस स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है। "ब्रह्माश्रमपदे 'वसेत्" इस स्मृतिके अनुसार ज्ञानप्राप्तिके

१. ब्रह्माश्रम [अर्थात् ब्रह्मज्ञानके साधनभूत संन्यासाश्रम] में निवास करे ।

ब्रह्मचर्यादिविद्यासाधनानां च साकल्येनात्याश्रमिषूपपत्तेर्गार्हस्थ्येऽसंभवात्। न चासंपन्नं साधनं कस्यचिदर्थस्य साधनायालम्। यद्विज्ञानोपयोगीनि च गार्हस्थ्याश्रमकर्माणि तेषां परमफलमुपसंहृतं देवताप्ययलक्षणं संसारविषयमेव। यदि कर्मिण एव परमात्मविज्ञानमभविष्यत् संसारविषयस्यैव फलस्योपसंहारो नोपापत्स्यत्।

अङ्गफलं तदिति चेन्न तद्विदेवताप्ययस्य रोध्यात्मवस्तुविषयज्ञानाङ्गत्वनिरासः त्वादात्मविद्यायाः। निराकृतसर्वनामरूपकर्मपरमार्थात्मवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वसाधनम्। गुणफलसंबन्धे हि निराकृतसर्वविशेषात्मवस्तुविषयत्वं ज्ञानस्य न प्राप्नोति। तच्चानिष्टम्,

साधन ब्रह्मचर्यादिकी सिद्धि भी सम्यक् रीतिसे संन्यासियोंमें ही हो सकती है; क्योंकि गृहस्थाश्रममें उन साधनोंका होना असम्भव है; और अपूर्ण साधन किसी अर्थको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। गृहस्थाश्रमके कर्म जिस विज्ञानमें उपयोगी हैं उसके देवतामें लय होनारूप संसारविषयक परम फलका उपसंहार किया जा चुका है। यदि कर्मीको ही परमात्माका साक्षात् ज्ञान हुआ करता तो संसारविषयक फलका उपसंहार (अन्त) होना कभी सम्भव ही न था।

यदि कहो कि वह तो अङ्गफलमात्र है* तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मविद्या तो उसके विरोधी आत्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली है। सब प्रकारके नाम, रूप और कर्मसे रहित परमार्थ आत्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मज्ञान तो अमरत्वका साधन है। उससे गौण फलका सम्बन्ध माननेपर तो ज्ञानका सर्वविशेषशून्य आत्मवस्तुसे सम्बन्धित होना ही सिद्ध नहीं होता। और यह इष्ट नहीं है,

* अर्थात् देवतालयरूप जो संसारविषयक फल है वह कर्मका अङ्ग—गौण फल है, मुख्य फल तो परमात्माका साक्षात्कार ही है।

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यधिकृत्य क्रियाकारकफलादिसर्वव्यवहारनिराकरणाद्विदुषः । तद्विपरीतस्याविदुषो "यत्र हि द्वैतमिव" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्युक्त्वा क्रियाकारकफलरूपस्यैव संसारस्य दर्शितत्वाच्च वाजसनेयिब्राह्मणे । तथेहापि देवताप्ययं संसारविषयं यत्फलमशनायादिमद्वस्त्वात्मकं तत्फलमुपसंहृत्य केवलं सर्वात्मकवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वाय वक्ष्यामीति प्रवर्तते ।

क्योंकि "जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया है" इस प्रकार आरम्भ करके विद्वान्के लिये क्रिया, कारक और फल आदि सम्पूर्ण व्यवहारका निराकरण किया है। तथा उसके विपरीत अविद्वान्के लिये वाजसनेयिब्राह्मणमें "जहाँ कि द्वैतके समान होता है" ऐसा कहकर क्रिया, कारक और फलरूप संसार-विषयको प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार यहाँ (ऐतरेयोपनिषद्में) भी जो क्षुधा-पिपासादियुक्त वस्तुरूप संसारविषयक देवताप्ययसंज्ञक फल है उसका उपसंहार कर अब केवल सर्वात्मक वस्तुविषयक ज्ञानका ही अमरत्व-प्राप्तिके लिये वर्णन करूँगी —ऐसे अभिप्रायसे श्रुति प्रवृत्त होती है।

ऋणप्रतिबन्ध-विचारः

ऋणप्रतिबन्धस्याविदुष एव मनुष्यपितृदेवलोकप्राप्तिं प्रति, न विदुषः । "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इत्यादिलोकत्रयसाधननियमश्रुतेः । विदुषश्च ऋणप्रति-

तथा देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोककी प्राप्तिमें ऋणोंका प्रतिबन्ध तो अज्ञानीके ही लिये है, ज्ञानीके लिये नहीं, जैसा कि "उस इस मनुष्य-लोकको पुत्रके द्वारा ही [जीता जा सकता है]" इत्यादि लोकत्रयकी प्राप्तिके साधनका नियम करनेवाली श्रुतिसे सिद्ध होता है। तथा आत्म-लोकके इच्छुक विद्वान्के लिये

बन्धाभावो दर्शित आत्मलोकार्थिनः "किं प्रजया करिष्यामः" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिना । तथा "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुऋर्षयः कावषेयाः" इत्यादि । "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रुः" (कौषी० २ । ५) इति च कौपीतकिनाम् ।

"हम प्रजासे क्या करेंगे ?" इत्यादि वाक्योंद्वारा ऋणोंके प्रतिबन्धका अभाव दिखलाया है, इसी प्रकार "वे प्रसिद्ध आत्मवेत्ता कावषेय ऋषि बोले—[मैं अध्ययन कैसे करूँ ? होम कैसे करूँ ?]" इत्यादि श्रुति है तथा ऐसी ही "उस इस आत्मतत्त्वको जाननेवाले पूर्ववर्ती विद्वान् अग्निहोत्र नहीं करते थे" यह कौषीतकी शाखाकी श्रुति है।

अविदुषस्तर्हि ऋणानपाकरणे पारिव्राज्यानुपपत्तिरिति चेत् ?

पूर्व०—तब अविद्वान्के लिये तो ऋणोंका परिशोध बिना किये संन्यास करना बन नहीं सकता ?

न; प्राग्गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेर्ऋणित्वासंभवात् । अधिकारानारूढोऽप्यृणी चेत्स्यात् सर्वस्य ऋणित्वमित्यनिष्टं प्रसज्येताप्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि "गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा" (जा० उ० ४) इत्यात्मदर्शनोपायसाधनत्वेनेष्यत एव पारिव्रा-

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, क्योंकि गृहस्थाश्रमकी प्राप्तिसे पूर्व तो ऋणित्व ही असम्भव है । यदि अधिकारारूढ न हुआ पुरुष भी ऋणी हो सकता है तो सभीका ऋणी होना सिद्ध होगा और इस प्रकार बड़ा अनिष्ट प्राप्त होगा । जो गृहस्थाश्रमको प्राप्त हो गया है उस पुरुषके लिये भी "गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ होकर संन्यास करे अथवा [इस क्रमको छोड़कर] अन्य प्रकारसे ज्ञानी ब्रह्मचर्यसे, गृहस्थाश्रमसे अथवा वानप्रस्थाश्रमसे ही संन्यास कर दे" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा आत्मदर्शनके साधनके उपायरूपसे

ज्यम् । यावज्जीवादिश्रुतीनाम-

यावज्जीवादि- विद्वदमुमुक्षुविषये
श्रुतीनाम- कृतार्थता । छान्दोग्ये
विद्वद्विषयत्वम च केषांचिद् द्वादश-

रात्रमग्निहोत्रं हुत्वा तत ऊर्ध्वं परित्यागः श्रूयते ।

यत्त्वनधिकृतानां पारिव्राज्य-

संन्यासस्य
कर्मानधिकारि-
विषयत्वनिरासः

मिति, तन्न, तेषां पृथगेव, "उत्सन्नाग्निरनग्निको वा" इत्यादिश्रवणात् । सर्वस्मृतिषु चाविशेषेणाश्रमविकल्पः प्रसिद्धः समुच्चयश्च ।

यत्तु विदुषोऽर्थप्राप्तं व्युत्थान-

व्युत्थानविधि-
विचारः

मित्यशास्त्रार्थत्वे, गृहे वने वा तिष्ठतो न विशेष इति,

संन्यास प्राप्त हो ही जाता है । अविद्वान् और अमुमुक्षु पुरुषोंके विषयमें "यावज्जीवन अग्निहोत्र करे" इत्यादि श्रुतियोंकी भी कृतार्थता है । छान्दोग्यमें तो किन्हीं-किन्हींके लिये बारह रात्रि अग्निहोत्र करके तदनन्तर उसका परित्याग करना सुना जाता है ।

और तुमने जो कहा कि जिन्हें कर्मका अधिकार नहीं है उन्हींके लिये संन्यासका विधान है, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उनके विषयमें "उत्सन्नाग्निरनग्निको वा"* इत्यादि अलग ही श्रुति है । तथा समस्त स्मृतियोंमें भी आश्रमोंका विकल्प[1] और समुच्चय[2] सामान्यरूपसे प्रसिद्ध ही है ।

तथा यह जो कहा कि विद्वान्‌को जो कर्मत्यागकी स्वतः प्राप्ति बतलायी है, सो शास्त्रका विषय न होनेके कारण उसके घर या वनमें रहनेमें कोई विशेषता नहीं है;

* जिसके अग्निहोत्रकी अग्नि प्रमादवश शान्त हो गयी है अथवा जिसने अग्निका परिग्रह नहीं किया है ।

१. क्रमकी अपेक्षा न करके जिस आश्रमसे सन्यास लेनेकी इच्छा हो उसीसे ले लेना ।

२. एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें क्रमानुसार जाना ।

तदसत्; व्युत्थानस्यैवार्थप्राप्तत्वान्नान्यत्रावस्थानं स्यात्। अन्यत्रावस्थानस्य कामकर्मप्रयुक्तत्वं ह्यवोचाम, तदभावमात्रं व्युत्थानमिति च।

ऐसा कहना ठीक नहीं। व्युत्थानके स्वतः प्राप्त होनेके कारण ही उसकी अन्यत्र [यानी गृहस्थाश्रममें] स्थिति नहीं हो सकती। अन्यत्र स्थितिको तो हमने कामना और कर्मसे प्रेरित ही बतलाया है; और उसके अभावको ही व्युत्थान कहा है।

विदुषो यथा-कामित्वनिषेधः

यथाकामित्वं तु विदुषोऽत्यन्तमप्राप्तं अत्यन्तमूढविषयत्वेनावगमात्। तथा शास्त्रचोदितमपि कर्म आत्मविदोऽप्राप्तं गुरुभारतयावगम्यते। किमुतात्यन्ताविवेकनिमित्तं यथाकामित्वम्। न हि उन्मादतिमिरदृष्ट्युपलब्धं वस्तु तदपगमेऽपि तथैव स्यात्। उन्मादतिमिरदृष्टिनिमित्तत्वादेव तस्य। तस्मादात्मविदो व्युत्थानव्यतिरेकेण न यथाकामित्वं न चान्यत्कर्तव्यमित्येतत्सिद्धम्।

स्वेच्छाचार तो अत्यन्त मूढका विषय समझा गया है, इसलिये विद्वान्‌के लिये वह अत्यन्त अप्राप्त है। तथा विद्वान्‌के लिये तो अत्यन्त भाररूप होनेके कारण शास्त्रोक्त कर्मकी भी अप्राप्ति समझी जाती है। फिर अत्यन्त अविवेकके कारण होनेवाले स्वेच्छाचारकी तो बात ही क्या है? उन्माद अथवा तिमिररोगसे दूषित दृष्टिद्वारा उपलब्ध हुई वस्तु उसके निवृत्त हो जानेपर भी वैसी ही नहीं रहती; क्योंकि वह तो उन्माद अथवा तिमिरदृष्टिके कारण ही वैसी प्रतीत होती है। अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मवेत्ताके लिये व्युत्थानको छोड़कर न तो स्वेच्छाचार ही है और न कोई अन्य कर्तव्य ही शेष रहता है।

विदुषो ज्ञानकर्मसमुच्चयानुपपत्तिः

यत्तु—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयँ सह" (ई० उ० ११) इति न विद्यावतो विद्यया सहाविद्यापि वर्तते इत्ययमर्थः; कस्तर्हि एकस्मिन्पुरुषे एते एकदैव न सह संबध्येयातामित्यर्थः। यथा शुक्तिकायां रजतशुक्तिकाज्ञाने एकस्य पुरुषस्य। "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता" (क० उ० १।२।४) इति हि काठके। तस्मान्न विद्यायां सत्यामविद्यासंभवोऽस्ति।

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३।२) इत्यादिश्रुतेः तपआदि विद्योत्पत्तिसाधनं गुरूपासनादि च कर्म अविद्यात्मकत्वादविद्योच्यते तेन विद्यामुत्पाद्य मृत्युं काममतितरति। ततो निष्कामस्त्यक्तैषणो ब्रह्मविद्यया अमृतत्वमश्नुत इत्ये-

तथा ऐसा जो कहा है कि "जो पुरुष विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानता है" वह इसलिये नहीं है कि विद्वान्में विद्याके साथ अविद्या भी रहती है। तो फिर उसका क्या प्रयोजन है? उसका तात्पर्य तो यही है कि एक ही पुरुषमें ये दोनों साथ साथ नहीं रह सकते; जिस प्रकार कि सीपीमें एक पुरुषको [एक ही समय] चाँदी और सीपी दोनोंका ज्ञान नहीं हो सकता। कठोपनिषद्में भी कहा है—"जो विद्या और अविद्या नामसे जानी जाती हैं वे परस्पर अत्यन्त विपरीत (विरुद्ध स्वभाववाली) हैं।" अतः विद्याके रहते हुए अविद्याका रहना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

"तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" इत्यादि श्रुतिके अनुसार तप आदि विद्योत्पत्तिके साधन और गुरुकी उपासना आदि कर्म अविद्यामय होनेके कारण 'अविद्या' कहे जाते हैं। उस अविद्यारूप कर्मसे विद्याको उत्पन्न करके वह मृत्यु यानी कामनाको पार कर जाता है। तब वह निष्काम और एषणामुक्त पुरुष ब्रह्मविद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है—

तमर्थं दर्शयन्नाह—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति।

इसी अर्थको प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि "अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है"

उपसंहारः

यत्तु पुरुषायुः सर्वं कर्मणैव व्याप्तं "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः" (ई० उ० २) इति तदविद्वद्विषयत्वेन परिहृतमितरथासंभवात्। यत्तु वक्ष्यमाणमपि पूर्वोक्ततुल्यत्वात्कर्मणाविरुद्धमात्मज्ञानमिति, तत्सविशेषनिर्विशेषात्मतया प्रत्युक्तम्, उत्तरत्र व्याख्याने च दर्शयिष्यामः। अतः केवलनिष्क्रियब्रह्मात्मकत्वविद्यादर्शनार्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—

"कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे" इस मन्त्रद्वारा जो यह कहा गया था कि पुरुषकी सारी आयु कर्मसे ही व्याप्त है उसका 'वह अविद्वान्से सम्बन्ध रखनेवाला है'—ऐसा बतलाकर खण्डन कर दिया गया, क्योंकि अन्य प्रकार वैसा होना असम्भव है तथा तुमने जो कहा था कि आगे कहा जानेवाला आत्मज्ञान भी पूर्वोक्त [श्रुतिकथित] ज्ञानके तुल्य होनेके कारण कर्मसे अविरुद्ध ही है उस कथनको भी सविशेष और निर्विशेष आत्मविषयक बतलाकर खण्डन कर चुके हैं और आगेकी व्याख्यामें इसका दिग्दर्शन भी करायेंगे। अब यहाँसे केवल निष्क्रिय ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान प्रदर्शित करनेके लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

आत्माके ईक्षणपूर्वक सृष्टि

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत्किंचन मिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति॥ १॥

१ यह वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् १.४.१ में भी आता है।

पहले यह [जगत्] एकमात्र आत्मा ही था, उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसने यह सोचा कि लोकोंकी रचना करूँ ॥ १ ॥

आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वै; इदं यदुक्तं नामरूपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रे जगतः सृष्टेः प्रागासीत्।

[व्याप्तिबोधक] 'आप्', [भक्षणार्थक] 'अद्' अथवा [सतत गमनबोधक] 'अत' धातुसे 'आत्मा' शब्द निष्पन्न हुआ है। यह जो नाम, रूप और कर्मके भेदसे विविधरूप प्रतीत होनेवाला जगत् कहा गया है वह पहले यानी संसारकी सृष्टिसे पूर्व सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् क्षुधा-पिपासा आदि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे रहित, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वयरूप आत्मा ही था।

किं नेदानीं स एवैकः ?

पूर्व०—क्या इस समय भी एकमात्र वही नहीं है ?

न।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है।

कथं तर्ह्यासीदित्युच्यते ?

पूर्व०—तो फिर 'आसीत (था)' ऐसा क्यों कहा है ?

यद्यपीदानीं स एवैकस्तथाप्यस्ति विशेषः। प्रागुत्पत्तेरव्याकृतनामरूपभेदमात्मभूतमात्मकशब्दप्रत्ययगोचरं जगदिदानीं

सिद्धान्ती—यद्यपि इस समय भी अकेला वही है तो भी कुछ विशेषता अवश्य है। [वह विशेषता यही है कि] उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् नाम-रूपादि भेदके व्यक्त न होनेके कारण आत्मभूत और एक 'आत्मा' शब्दकी प्रतीतिका ही

व्याकृतनामरूपभेदत्वादनेकशब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं चेति विशेषः ।

यथा सलिलात्पृथक्फेननामरूपव्याकरणात्प्राक्सलिलैकशब्दप्रत्ययगोचरमेव फेनम्, यदा सलिलात्पृथङ्नामरूपभेदेन व्याकृतं भवति तदा सलिलं फेनं चेत्यनेकशब्दप्रत्ययभाक्सलिलमेवेति चैकशब्दप्रत्ययभाक्च फेनं भवति तद्वत् ।

नान्यत्किंचन न किंचिदपि मिषन्निमिषद्व्यापारवदितरद्वा । यथा सांख्यानामनात्मपक्षपाति स्वतन्त्रं प्रधानं यथा च काणादानामणवो न तद्वदिहान्यदात्मनः किंचिदपि वस्तु विद्यते किं तर्हि ? आत्मैवैक आसीदित्यभिप्रायः ।

विषय था और इस समय नामरूपादि भेदके व्यक्त हो जानेसे वह अनेक शब्दोंकी प्रतीतिका विषय तथा एकमात्र 'आत्मा' शब्दकी प्रतीतिका विषय भी हो रहा है;

जिस प्रकार जलसे पृथक् फेनके नाम और रूपकी अभिव्यक्ति होनेसे पूर्व फेन एकमात्र 'जल' शब्दकी प्रतीतिका ही विषय था; किन्तु जिस समय वह जलसे अलग नाम और रूपके भेदसे व्यक्त हो जाता है उस समय वह फेन 'जल' और 'फेन' इस प्रकार अनेक शब्दोंकी प्रतीतिका विषय तथा केवल 'जल' इस एक शब्दकी प्रतीतिका विषय भी हो जाता है; उसी प्रकार [उपर्युक्त भेद भी समझना चाहिये] ।

उसके सिवा अन्य कोई व्यापारयुक्त अथवा निष्क्रिय वस्तु नहीं था । जिस प्रकार सांख्यवादियोंके मतमें आत्माकी कोटिमें न आनेवाला उससे स्वतन्त्र प्रधान था, तथा कणादमतावलम्बियोंके विचारमें परमाणु थे उस प्रकार इस (औपनिषद सिद्धान्त) में आत्मासे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं थी । तो फिर क्या था ? एकमात्र आत्मा ही था—यह इसका अभिप्राय है ।

स सर्वज्ञस्वाभाव्याद् आत्मा एक एव सन्नीक्षत । ननु प्रागुत्पत्तेरकार्यकरणत्वात्कथमीक्षितवान् ! नायं दोषः; सर्वज्ञस्वाभाव्यात् तथा च मन्त्रवर्णः— "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वे० उ० ३ । १९) इत्यादिः । केनाभिप्रायेणेत्याह—लोकान् अम्भःप्रभृतीन् प्राणिकर्मफलोपभोगस्थानभूतान्नु सृजै सृजेऽहमिति ॥ १ ॥

सर्वज्ञस्वभाव होनेके कारण उस आत्माने अकेले होते हुए ही ईक्षण (चिन्तन) किया । यदि कहो कि वह जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व कार्य और करणका अभाव रहते हुए भी उसने किस प्रकार ईक्षण किया ? तो यह कोई दोषकी बात नहीं है; क्योंकि वह आत्मा स्वभावसे ही सर्वज्ञ है । इस विषयमें "हाथ-पाँववाला न होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है" इत्यादि मन्त्र-वर्ण भी है । उसने किस अभिप्रायसे ईक्षण किया ? इसपर श्रुति कहती है—'मैं प्राणियोंके कर्मफलोपभोगके आश्रयभूत अम्भ आदि लोकोंकी रचना करूँ' इस प्रकार ईक्षण किया ॥ १ ॥

सृष्टिक्रम

एवमीक्षित्वा आलोच्य—

इस प्रकार ईक्षण यानी आलोचना करके—

स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोऽदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

उसने अम्भ, मरीचि, मर, और आप—इन लोकोंकी रचना की। जो द्युलोकसे परे है और स्वर्ग जिसकी प्रतिष्ठा है वह 'अम्भ' है; अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) 'मरीचि' है; पृथिवी 'मर-लोक' है, और जो [पृथिवी] नीचे है वह 'आप' है ॥ २ ॥

स आत्मेमाँल्लोकानसृजत सृष्टवान्। यथेह बुद्धिमांस्तक्षादिरेवंप्रकारान्प्रासादादीन्सृज इति ईक्षित्वेक्षानन्तरं प्रासादादीन्सृजति तद्वत्।

उस आत्माने इन लोकोंकी रचना की। जिस प्रकार इस लोकमें बुद्धिमान् शिल्पकार आदि 'मैं इस प्रकारके महल आदि बनाऊँ' ऐसा विचार करके उस विचारके अनन्तर ही महल आदिकी रचना करते हैं उसी प्रकार [उसने ईक्षण करके इन लोकादिकी रचना की]।

ननु सोपादानस्तक्षादिः प्रासादादीन्सृजतीति युक्तं निरुपादानस्त्वात्मा कथं लोकान् सृजति?

शङ्का—शिल्पकारादि तो उन महल आदिकी उपादान सामग्रीसे युक्त होते हैं इसलिये वे महल आदिकी रचना करते हैं—ऐसा कहना ठीक ही है, किन्तु उपादान (सामग्री) से रहित आत्मा किस प्रकार लोकोंकी रचना करता है?

निरुपादानस्य आत्मनः सृष्टि-कर्तृत्वम्

नैष दोषः, सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते नामरूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगतः उपादानभूते संभवतः। तस्माद्

समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जलमें [व्यक्त न हुए] फेनस्थानीय अव्याकृत नाम और रूप जो आत्मास्वरूप और एकमात्र 'आत्मा' शब्दके ही वाच्य हैं, व्याकृत फेनस्वरूप जगत्के उपादान हो सकते हैं। अतः वह सर्वज्ञ

आत्मभूतनामरूपोपादानभूतः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरुद्धम् ।

आत्मा अपने आत्मभूत नाम और रूपका उपादानस्वरूप होकर जगत्-की रचना करता है—इसमें कोई विरोध नहीं है ।

अथवा, यथा विज्ञानवान्मायावी निरुपादान आत्मानमेव आत्मान्तरत्वेनाकाशेन गच्छन्तमिव निर्मिमीते, तथा सर्वज्ञो देवः सर्वशक्तिर्महामाय आत्मानमेवात्मान्तरत्वेन जगद्रूपेण निर्मिमीत इति युक्ततरम् । एवं च सति कार्यकारणोभयासद्वाद्यादिपक्षाश्च न प्रसज्जन्ते सुनिराकृताश्च भवन्ति ।

अथवा जिस प्रकार बुद्धियुक्त मायावी कोई उपादान न होनेपर भी स्वयं अपनेहीको अपने अन्यरूपसे आकाशमें चलता हुआ-सा बना लेता है उसी प्रकार वह सर्वशक्तिमान्, महामायावी, सर्वज्ञ देव अपनेहीको जगत्रूप अपने अन्य स्वरूपसे रच लेता है—यह बहुत युक्तियुक्त ही है। ऐसा होनेपर कार्य और कारण-इन दोनोंको असत् बतलानेवालोंके [असद्वाद आदि] पक्षोंकी प्राप्ति नहीं होती और उनका पूर्णतया निराकरण हो जाता है ।

कांल्लोकानसृजतेत्याह—

अम्भो मरीचीर्मरमाप

आत्मसृष्ट-लोकाख्यानम् इति । आकाशादिक्रमेण अण्डमुत्पाद्याम्भःप्रभृतीन् लोकानसृजत । तत्राम्भःप्रभृतीन् स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः ।

उसने किन लोकोंकी रचना की ? इसपर कहते हैं—अम्भ, मरीचि, मर और आप आदिको । उसने आकाशादि क्रमसे अण्डको उत्पन्न कर अम्भ आदि लोकोंकी रचना की । उन अम्भ आदि लोकों-की श्रुति स्वयं ही व्याख्या करती है ।

अदस्तदम्भः शब्दवाच्यो लोकः परेण दिवं द्युलोकात्परेण परस्तात्;सोऽम्भःशब्दवाच्यः,अम्भो-

अदः—वह 'अम्भ' शब्दसे कहा जानेवाला लोक है, जो द्युलोकसे परे है; वह जल (मेघों) को धारण

भरणात् । द्यौः प्रतिष्ठाश्रयस्तस्याम्भसो लोकस्य । द्युलोकादधस्तादन्तरिक्षं यत्तन्मरीचयः । एकोऽप्यनेकस्थानभेदत्वाद्बहुवचनभाक्—मरीचय इति; मरीचिभिर्वा रश्मिभिःसम्बन्धात् । पृथिवी मरो म्रियन्तेऽस्मिन् भूतानीति । या अधस्तात् पृथिव्यास्ता आप उच्यन्ते;आप्नोतेः,लोकाः। यद्यपि पञ्चभूतात्मकत्वं लोकानां तथाप्यब्बाहुल्यादब्नामभिरेवाम्भो मरीचीर्मरमाप इत्युच्यन्ते ॥२॥

करनेवाला होनेसे 'अम्भ' शब्दसे कहा जाता है । उस अम्भलोकका द्युलोक प्रतिष्ठा यानी आश्रय है । द्युलोकसे नीचे जो अन्तरिक्ष है वह मरीचिलोक है । वह एक होनेपर भी अनेकों स्थानभेदोंके कारण 'मरीचयः' इस प्रकार बहुवचनरूपसे प्रयुक्त हुआ है । अथवा किरणोंसे सम्बन्धित होनेके कारण वह 'मरीचि' कहलाता है । पृथिवी 'मर' है; क्योंकि उसमें प्राणी मरते हैं । जो लोक पृथिवीसे नीचेकी ओर हैं वे 'आप' कहलाते हैं; क्योंकि 'अप्' शब्द [नीचेके लोकोंमें रहनेवाले प्राणियोंद्वारा प्राप्य होनेके कारण प्राप्तिरूप अर्थवाले] 'आप्' धातुसे बना हुआ है । यद्यपि सभी लोक पञ्चभूतमय हैं तथापि आप (जल) की अधिकता होनेके कारण ये अम्भ, मरीचि, मर और आप इन आप (जल) वाची नामोंसे कहे जाते हैं ॥ २ ॥

पुरुषरूप लोकपालकी रचना

सर्वप्राणिकर्मफलोपादानाधिष्ठानभूतांश्चतुरो लोकान् सृष्ट्वा—

सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मफलरूप उपादानके अधिष्ठानभूत चारों लोकोंकी रचना कर—

स ईक्षतेमे नु लोका, लोकपालान्नु सृजा इति । सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ३ ॥

उसने ईक्षण (विचार) किया कि — ये लोक तो तैयार हो गये अब लोकपालोंकी रचना करूँ। ऐसा सोचकर उसने जलमेंसे ही एक पुरुष निकालकर अवयवयुक्त किया ॥ ३ ॥

स ईश्वरः पुनरेवेक्षत । इमे नु अम्भःप्रभृतयो मया सृष्टा लोकाः परिपालयितृवर्जिता विनश्येयुः, तस्मादेषां रक्षणार्थं लोकपालाँल्लोकानां पालयितॄन्नु सृजै सृजेऽहमिति ।

उस ईश्वरने फिर भी ईक्षण (विचार) किया । मेरे रचे हुए ये अम्भ आदि लोक बिना किसी रक्षकके नष्ट हो जायँगे । अतः इनकी रक्षाके लिये मैं लोकपालोंकी— लोकोंकी रक्षा करनेवालोंकी रचना करूँ ।

एवमीक्षित्वा सोऽद्भ्य एवं अप्प्रधानेभ्य एव पञ्चभूतेभ्यो येभ्योऽम्भःप्रभृतीन्सृष्टवांस्तेभ्य एवेत्यर्थः । पुरुषं पुरुषाकारं शिरःपाण्यादिमन्तं समुद्धृत्य अद्भ्यः समुपादाय मृत्पिण्डमिव कुलालः पृथिव्याः, अमूर्छयत् मूर्छितवान् संपिण्डितवान् स्वावयवसंयोजनेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

ऐसा सोचकर उसने जलसे— जलप्रधान पञ्चभूतोंसे अर्थात् जिनसे उसने अम्भ आदि लोकोंकी रचना की थी उन्हींसे पुरुष यानी शिर और हाथ आदिवाले पुरुषाकारको, जिस प्रकार कुम्हार पृथिवीसे मिट्टीका पिण्ड निकालता है, उसी प्रकार निकालकर मूर्छित किया अर्थात् अवयवोंकी योजना कर उसको बढ़ाया ॥ ३ ॥

इन्द्रियगोलक, इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंकी उत्पत्ति

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां, नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षु

श्चक्षुष आदित्यः कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिर्निरभिद्यत नाभ्यां अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

उस [विराट् पुरुष] के उद्देश्यसे ईश्वरने संकल्प किया । उस संकल्प किये [पिण्ड] से अण्डेके समान मुख उत्पन्न हुआ । मुखसे वाक् और वागिन्द्रियसे अग्नि उत्पन्न हुआ । [फिर] नासिकारन्ध्र प्रकट हुए, नासिकारन्ध्रोंसे प्राण हुआ और प्राणसे वायु । [इसी प्रकार] नेत्र प्रकट हुए, तथा नेत्रोंसे चक्षु इन्द्रिय और चक्षुसे आदित्य उत्पन्न हुआ । [फिर] कान उत्पन्न हुए तथा कानोंसे श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्रसे दिशाएँ प्रकट हुईं । [तदनन्तर] त्वचा प्रकट हुई तथा त्वचासे लोम और लोमोंसे ओषधि एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं । [इसी प्रकार] हृदय उत्पन्न हुआ, तथा हृदयसे मन और मनसे चन्द्रमा प्रकट हुआ । [फिर] नाभि उत्पन्न हुई तथा नाभिसे अपान और अपानसे मृत्युकी अभिव्यक्ति हुई । [तदनन्तर] शिश्न प्रकट हुआ तथा शिश्नसे रेतस् और रेतस्से आप उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

तं पिण्डं पुरुषविधमुद्दिश्याभ्यतपत् । तदभिध्यानं संकल्पं कृतवानित्यर्थः, "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० उ० १ । १ । ९) इत्यादिश्रुतेः । तस्याभितप्तस्येश्वरसंकल्पेन तपसाभितप्तस्य पिण्डस्य मुखं निरभिद्यत मुखाकारं सुषिरमजायत यथा पक्षिणोऽण्डं निर्भिद्यत

उस पुरुषाकारपिण्डके उद्देश्यसे ईश्वरने तप किया । अर्थात् उसका अभिध्यान यानी सङ्कल्प किया, जैसा कि "जिसका तप ज्ञानमय है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । उस अभितप्त—ईश्वरके सङ्कल्परूप तपसे तपे हुए पिण्डका मुख प्रकट हुआ अर्थात् उसमें मुखाकार छिद्र इस प्रकार उत्पन्न हो गया जैसे कि पक्षीका अण्डा फट जाता है उस

एवम् । तस्मान्निर्भिन्नान्मुखाद्वाक्करणमिन्द्रियं निरवर्तत; तदधिष्ठाताग्निस्ततो वाचो लोकपालः । तथा नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्यां प्राणः; प्राणाद्वायुः; इति सर्वत्राधिष्ठानं करणं देवता च त्रयं क्रमेण निर्भिन्नमिति । अक्षिणी कर्णौ त्वग् हृदयमन्तःकरणाधिष्ठानम्, मनोऽन्तःकरणम् । नाभिः सर्वप्राणबन्धनस्थानम् । अपानसंयुक्तत्वादपान इति पाय्विन्द्रियमुच्यते। तस्मात् तस्याधिष्ठात्री देवता मृत्युः । यथान्यत्र, तथा शिश्नं निरभिद्यत प्रजननेन्द्रियस्थानम् । इन्द्रियं रेतो रेतोविसर्गार्थत्वात्सह रेतसोच्यते । रेतस आप इति ॥ ४ ॥

छिद्ररूप मुखसे वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई और उस वाक्से वाणीका अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि हुआ । इसी प्रकार नासिकारन्ध्र उत्पन्न हुए, उन नासिकारन्ध्रोंसे प्राण और प्राणसे वायु हुआ । इस प्रकार सभी जगह इन्द्रिय-गोलक, इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देव--ये तीनों ही क्रमशः उत्पन्न हुए । दो नेत्र, दो कान और त्वचा [--ये इन्द्रियस्थान हैं], हृदय अन्तःकरणका अधिष्ठान है और मन अन्तःकरण है । नाभि सम्पूर्ण प्राणोंके बन्धनका स्थान है । अपान वायुयुक्त होनेके कारण पायु इन्द्रिय अपान कहलाता है; उससे उसकी अधिष्ठात्री देवता मृत्यु उत्पन्न हुई । जैसे कि अन्यत्र [इन्द्रिय, इन्द्रियस्थान और देवता] बतलाये गये हैं, उसी प्रकार प्रजननेन्द्रियका आश्रयस्थान शिश्न उत्पन्न हुआ । उसमें रेतः इन्द्रिय है, जो रेतोविसर्ग (वीर्यत्याग) की हेतुभूत होनेसे रेतः (वीर्य) के सम्बन्धसे 'रेतस्' कही जाती है और रेतःसे आप (वीर्यके अधिष्ठाता जल) का प्रादुर्भाव हुआ ॥ ४ ॥

इति ~~श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये~~ प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः ~~समाप्तः~~ ॥ १ ॥

द्वितीयः खण्डः

देवताओंकी अन्न एवं अयातन-याचना

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतन्। तमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत्। ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १॥

वे ये [इस प्रकार] रचे हुए [इन्द्रियाभिमानी] देवगण इस महासमुद्रमें पतित हो गये । उस [पिण्ड] को [परमात्माने] क्षुधापिपासासे संयुक्त कर दिया । [तब] उन [इन्द्रियाभिमानी] देवताओंने उससे कहा—हमारे लिये कोई आश्रयस्थान बतलाइये, जिसमें स्थित होकर हम अन्न भक्षण कर सकें ॥ १॥

ता एता अग्न्यादयो देवता लोकपालत्वेन संकल्प्य सृष्टा ईश्वरेणास्मिन्संसारार्णवे संसारसमुद्रे महत्यविद्याकामकर्मप्रभवदुःखोदके तीव्ररोगजरामृत्युमहाग्राहेऽनादावनन्तेऽपारे निरालम्बे विषयेन्द्रियजनितसुखलवक्षणविश्रामे पञ्चेन्द्रियार्थतृण्मारुत-

ईश्वरद्वारा लोकपालरूपसे संकल्प करके रचे हुए वे ये अग्नि आदि देवगण इस अति महान् संसारार्णव—संसारसमुद्रमें [गिरे], जो (संसार-समुद्र) अविद्या, कामना और कर्मसे उत्पन्न हुए दुःखरूप जल तथा तीव्र रोग, जरा और मृत्युरूप महाग्राहोंसे पूर्ण है, अनादि, अनन्त, अपार एवं निरालम्ब है, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला अणुमात्र सुख ही जिसकी क्षणिक विश्रान्तिका स्वरूप है, जिसमें पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-

विक्षोभोत्थितानर्थशतमहोर्मौ महारौरवाद्यनेकनिरयगतहाहेत्यादिकूजिताक्रोशनोद्भूतमहारवे सत्यार्जवदानदयाहिंसाशमदमधृत्याद्यात्मगुणपाथेयपूर्णज्ञानोडुपे सत्सङ्गसर्वत्यागमार्गे मोक्षतीरे एतस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्पतितवत्यः ।

तृष्णारूप पवनके विक्षोभसे उठी हुई अनर्थरूप सैकड़ों उत्ताल तरङ्गें हैं; जहाँ महारौरव आदि अनेकों नरकोंके 'हा हा' आदि क्रन्दन और चिल्लाहट-से बड़ा कोलाहल मचा हुआ है, जिसमें सत्य, सरलता, दान, दया, अहिंसा, शम, दम और धैर्य आदि आत्माके गुणरूप पाथेयसे भरी हुई ज्ञानरूप नौका है, सत्सङ्ग और सर्वत्याग ही जिसमें [नौकाओंके आने-जानेका] मार्ग है तथा मोक्ष ही जिसका तीर है—ऐसे [संसाररूप] महासागरमें पतित हुए —गिरे ।

तस्मादग्न्यादिदेवताप्ययलक्षणापि या गतिर्व्याख्याता ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलभूता सापि नालं संसारदुःखोपशमाय, इत्ययं विवक्षितोऽर्थोऽत्र । यत एवं तस्मादेवं विदित्वा परं ब्रह्म आत्मात्मनः सर्वभूतानां च यो वक्ष्यमाणविशेषणः प्रकृतश्च जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारहेतुत्वेन स

अतः यहाँ यही अर्थ कहना इष्ट है कि ज्ञान और कर्मके समुच्चयानुष्ठानकी फलस्वरूपा जिस अग्नि आदि देवतामें लीन होनारूप गतिकी [पूर्व अध्यायोंमें] व्याख्या की गयी है वह भी सांसारिक दुःखकी शान्तिके लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये [देवतालयरूप गति संसारदुःखकी शान्तिका उपाय नहीं है] ऐसा जानकर जो परब्रह्म अपना और सब प्राणियोंका आत्मा है, जिसके विशेषण आगे बतलाये जानेवाले हैं और संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारणरूपसे जिसका यहाँ प्रकरण है उसे संसारके सम्पूर्ण

सर्वसंसारदुःखोपशमनाय वेदितव्यः । तस्मात् "एष पन्था एतत्कर्मैतद् ब्रह्मैतत् सत्यम्" (ऐ० उ० २ । १ । १) यदेतत्परब्रह्मात्मज्ञानम् "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे० उ० ३ । ८, ६ । १५) इति मन्त्रवर्णात् ।

तं स्थानकरणदेवतोत्पत्तिबीजभूतं पुरुषं प्रथमोत्पादितं पिण्डमात्मानमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जदनुगमितवान्संयोजितवानित्यर्थः । तस्य कारणभूतस्याशनायादिदोषवत्त्वात्तत्कार्यभूतानामपि देवतानामशनायादिमत्त्वम् । तास्ततोऽशनायापिपासाभ्यां पीड्यमाना एनं पितामहं स्रष्टारमब्रुवन्नुक्तवत्यः—आयतनमधिष्ठानं नोऽस्मभ्यं प्रजानीहि विधत्स्व । यस्मिन्नायतने प्रतिष्ठिताः समर्थाः सत्योऽन्नमदाम भक्षयाम इति ॥ १ ॥

दुःखोंकी शान्तिके लिये जानना चाहिये । अतः "मोक्षप्राप्तिका और कोई मार्ग नहीं है" इस श्रुतिके अनुसार यह जो परब्रह्मका आत्मस्वरूपसे ज्ञान है "यही मार्ग है, यही कर्म है, यही ब्रह्म है और यही सत्य है ।"

स्थान (इन्द्रियगोलक), इन्द्रिय और इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी उत्पत्तिके बीजभूत पुरुषरूपसे प्रथम उत्पन्न किये हुए उस पिण्ड अर्थात् आत्माको उसने क्षुधा और पिपासासे संयुक्त किया । उस कारणभूत पिण्डके क्षुधा आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण उसके कार्यभूत देवता आदि भी क्षुधा आदिसे युक्त हुए । तब क्षुधा-पिपासासे पीडित होकर उन्होंने उस जगद्रचयिता पितामहसे कहा—'हमारे लिये आयतन—आश्रयस्थानकी व्यवस्था करो, जिस आयतनमें प्रतिष्ठित होकर हम सामर्थ्यवान् हो अन्न भक्षण कर सकें' ॥ १ ॥

गौ और अश्वशरीरकी उत्पत्ति तथा देवताओंद्वारा उनकी अस्वीकृति

एवमुक्त ईश्वरः—

ऐसा कहे जानेपर ईश्वर—

ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥२॥

उन देवताओंके लिये गौ ले आया । वे बोले—'यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है ।' [फिर वह] उनके लिये घोड़ा ले आया । बोले—'यह [भी] हमारे लिये पर्याप्त नहीं है' ॥ २ ॥

ताभ्यो देवताभ्यो गां गवाकृतिविशिष्टं पिण्डं ताभ्य एवाद्भ्यः पूर्ववत्पिण्डं समुद्धृत्य मूर्छयित्वानयद्दर्शितवान् । ताः पुनर्गवाकृतिं दृष्ट्वाब्रुवन्—न वै नोऽस्मदर्थमधिष्ठानायान्नमत्तुमयं पिण्डोऽलं न वै । अलं पर्याप्तः अत्तुं न योग्य इत्यर्थः । गवि प्रत्याख्याते ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति पूर्ववत् ॥ २ ॥

उन देवताओंके लिये गो—गौके आकारवाला पिण्ड पूर्ववत् उस जलसे निकालकर—अवयवोंकी योजनाद्वारा रचकर लाया अर्थात् उसे उन देवताओंको दिखलाया । उस गौके समान आकारवाले प्राणीको देखकर वे पुनः बोले यह पिण्ड हमारे लिये अन्न भक्षण करनेके निमित्त आश्रय बनानेके लिये पर्याप्त नहीं है । 'अलम्' का अर्थ पर्याप्त है । अर्थात् [यह आश्रय] भोजन करनेके योग्य नहीं है ।' गौका परित्याग कर देनेपर वह उनके लिये घोड़ा लाया । तब वे 'हमारे लिये यह भी पर्याप्त नहीं है' इस प्रकार पूर्ववत् कहने लगे ॥ २ ॥

मनुष्यशरीरकी उत्पत्ति और देवताओंद्वारा उसकी स्वीकृति

सर्वप्रत्याख्याने—

इस प्रकार सबका त्याग कर दिया जानेपर—

ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति ।
पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥

[वह] उनके लिये पुरुष ले आया । वे बोले—'यह सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है ।' उन (देवताओं) से ईश्वरने कहा — 'अपने-अपने आयतन (आश्रयस्थानों) में प्रवेश कर जाओ' ॥ ३ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्स्वयोनिभूतम् । ताः स्वयोनिं पुरुषं दृष्ट्वा अखिन्नाः सत्यः सुकृतं शोभनं कृतमिदमधिष्ठानं बतेत्यब्रुवन् तस्मात्पुरुषो वाव पुरुष एव सुकृतं सर्वपुण्यकर्महेतुत्वात् । स्वयं वा स्वेनैवात्मना स्वमायाभिः कृतत्वात्सुकृतमित्युच्यते ।

[वह] उनके लिये उनका योनिस्वरूप पुरुष ले आया । अपने योनिभूत उस पुरुषको देखकर वे खेदरहित हो इस प्रकार बोले--'यह अधिष्ठान सुन्दर बना है । अतः सम्पूर्ण पुण्यकर्मोंका कारण होनेसे निश्चय पुरुष ही सुकृत है । अथवा स्वयं अपने-आप अपनी ही मायासे रचा होनेके कारण 'सुकृत' ऐसा कहा जाता है ।'

ता देवता ईश्वरोऽब्रवीदिष्टमासामिदमधिष्ठानमिति मत्वा, सर्वे हि स्वयोनिषु रमन्ते, अतो यथायतनं यस्य यद्वदनादिक्रियायोग्यमायतनं तत्प्रविशतेति ॥३॥

ईश्वरने यह समझकर कि इन्हें यह आश्रयस्थान प्रिय है, क्योंकि सभी अपनी योनिमें सन्तुष्ट रहा करते हैं, उन देवताओंसे कहा — 'जिसका जो आयतन है उस अपना सम्भाषणादि क्रियाके योग्य आयतनमें तुम सब प्रविष्ट हो जाओ' ॥३॥

देवताओंका अपने-अपने आयतनोंमें प्रवेश

तथास्त्वित्यनुज्ञां प्रतिलभ्येश्वरस्य नगर्यामिव बलाधिकृतादयः—

'ऐसा ही हो' इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार नगरीमें सेनाध्यक्षादि [प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार] —

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥४॥

अग्निने वागिन्द्रिय होकर मुखमें प्रवेश किया, वायुने प्राण होकर नासिका-रन्ध्रोंमें प्रवेश किया, सूर्यने चक्षुरिन्द्रिय होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया, दिशाओंने श्रवणेन्द्रिय होकर कानोंमें प्रवेश किया, ओषधि और वनस्पतियोंने लोम होकर त्वचामें प्रवेश किया, चन्द्रमाने मन होकर हृदयमें प्रवेश किया, मृत्युने अपान होकर नाभिमें प्रवेश किया तथा जलने वीर्य होकर लिङ्गमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥

अग्निर्वागभिमानी वागेव भूत्वा स्वां योनिं मुखं प्राविशत्तथोक्तार्थमन्यत् । वायुर्नासिके आदित्योऽक्षिणी दिशः कर्णौ ओषधिवनस्पतयस्त्वचं चन्द्रमा हृदयं मृत्युर्नाभिमापः शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

वागिन्द्रियके अभिमानी अग्निने वाक् होकर अपने कारणस्वरूप मुखमें प्रवेश किया । इसी प्रकार औरोंका भी अर्थ समझना चाहिये । [इस प्रकार] वायुने नासिकामें, सूर्यने नेत्रोंमें, दिशाओंने कानोंमें, ओषधि और वनस्पतियोंने त्वचामें, चन्द्रमाने हृदयमें, मृत्युने नाभिमें और जलने शिश्न (लिङ्ग) में प्रवेश किया ॥ ४ ॥

क्षुधा और पिपासाका विभाग

एवं लब्धाधिष्ठानासु देवतासु—

इस प्रकार देवताओंके आश्रय पा लेनेपर—

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति। ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति। तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

उस (ईश्वर) से क्षुधा-पिपासाने कहा—'हमारे लिये आश्रयकी योजना कीजिये।' तब [उसने] उनसे कहा—'तुम दोनोंको मैं इन्हीं देवताओंमें ही भागी दूँगा अर्थात् मैं तुम्हें इन्हींमें भागीदार करूँगा।' अतः जिस किसी देवताके लिये हवि दी जाती है उस देवताकी हविमें ये भूख-प्यास भी भागीदार होती ही हैं ॥ ५ ॥

निरधिष्ठाने सत्यौ अशनायापिपासे तमीश्वरमब्रूतामुक्तवत्यौ। आवाभ्यामधिष्ठानमभिप्रजानीहि चिन्तय विधत्स्वेत्यर्थः। स ईश्वर एवमुक्तस्ते अशनायापिपासे अब्रवीत्। न हि युवयोर्भावरूपत्वाच्चेतनावद्वस्त्वनाश्रित्यान्नात्तृत्वं संभवति। तस्मादेतास्वेवाग्न्याद्यासु वां युवां देवतास्वध्यात्माधिदेवतास्वाभजामि वृत्तिसंविभागेनानुगृह्णामि। एतासु

क्षुधा और पिपासाने आश्रयहीन होनेके कारण उस ईश्वरसे कहा—'हमारे लिये अधिष्ठानका अभिप्रज्ञान—चिन्तन अर्थात् विधान करो।' ऐसा कहे जानेपर उस ईश्वरने उन क्षुधा-पिपासाओंसे कहा—'भावरूप होनेके कारण तुम दोनोंका किसी चेतन वस्तुको आश्रय किये बिना अन्न भक्षण करना सम्भव नहीं है। अतः मैं इन अध्यात्म और अधिदैव अग्नि आदि देवताओंमें ही तुम दोनोंको आभाजित करता हूँ अर्थात् तुम्हारी वृत्तिका विभाग करके अनुगृहीत करता

भागिन्यौ यद्देवत्यो यो भागो हविरादिलक्षणः स्यात्तस्यास्तेनैव भागेन भागिन्यौ भागवत्यौ वां करोमीति । सृष्टाद्यदावीश्वर एवं व्यदधाद्यस्मात्तस्मादिदानीमपि यस्यै कस्यै च देवतायै अर्थाय हविर्गृह्यते चरुपुरोडाशादिलक्षणं भागिन्यावेव भागवत्यावेवास्यां देवतायामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

हूँ। मैं तुम्हें इन देवताओंमें ही भागी कहता हूँ-अर्थात् जिस देवताका जो हवि आदि भाग है उसके उसी भागसे मैं तुम्हें उनकी भागिनी--भाग ग्रहण करनेवाली बनाता हूँ। क्योंकि सृष्टिके आदिमें ईश्वरने ऐसी व्यवस्था कर दी थी इसलिये इस समय भी जिस किसी देवताके लिये चरु-पुरोडाशादि हवि ग्रहण की जाती है ये क्षुधा-पिपासा भी उस देवतामें भागिनी होती ही हैं ॥५॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥ २ ॥



तृतीय: खण्ड:

अन्नरचनाका विचार

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

उस (ईश्वर) ने विचारा ये लोक और लोकपाल तो हो गये, अब इनके लिये अन्न रचूँ ॥ १ ॥

स एवमीश्वर ईक्षत, कथम् ? इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च मया सृष्टा अशनायापिपासाभ्यां च संयोजिताः, अतो नैषां स्थितिरन्नमन्तरेण। तस्मादन्नमेभ्यो लोकपालेभ्यः सृजै सृज इति।

एवं हि लोके ईश्वराणामनुग्रहेनिग्रहे च स्वातन्त्र्यं दृष्टं स्वेषु। तद्वन्महेश्वरस्यापि सर्वेश्वरत्वात्सर्वान्प्रति निग्रहानुग्रहेऽपि स्वातन्त्र्यमेव ॥ १ ॥

उस ईश्वरने इस प्रकार ईक्षण किया—किस प्रकार ? (सो बतलाते हैं—) मैंने इन लोक और लोकपालोंकी रचना तो कर दी और इन्हें क्षुधा-पिपासासे संयुक्त भी कर दिया। अतः अन्नके बिना इनकी स्थिति नहीं हो सकती; इसलिये इन लोकपालोंके लिये मैं अन्न रचूँ।

इस प्रकार लोकमें ईश्वरों (समर्थों) की अपने लोगोंके ऊपर अनुग्रह एवं निग्रह करनेकी स्वतन्त्रता देखी जाती है। इसी प्रकार सर्वेश्वर होनेके कारण महेश्वर (परमेश्वर) को भी सबके प्रति निग्रह एवं अनुग्रहमें स्वतन्त्रता ही है ॥१॥

अन्नकी रचना

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत ।
या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

उसने आपों (जलों) को लक्ष्य करके तप किया । उन अभितप्त आपोंसे एक मूर्ति उत्पन्न हुई, यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वही अन्न है ॥ २ ॥

स ईश्वरोऽन्नं सिसृक्षुस्ता एव पूर्वोक्ता अप उद्दिश्याभ्यतपत् । ताभ्योऽभितप्ताभ्य उपादानभूताभ्यो मूर्तिर्घनरूपं धारणसमर्थं चराचरलक्षणमजायतोत्पन्नम् । अन्नं वै तन्मूर्तिरूपं या वै सा मूर्तिरजायत ॥ २ ॥

अन्न रचनेकी इच्छावाले उस ईश्वरने उन पूर्वोक्त जलोंको ही उद्देश्य करके तप किया । उन उपादानभूत अभितप्त जलोंसे ही धारण करनेमें समर्थ चराचरभूत घनरूप मूर्ति उत्पन्न हुई । यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वह मूर्तिरूप अन्न ही है ॥ २ ॥

अन्नका पलायन और उसके ग्रहणका उद्योग

तदेनत्सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्ना-
शक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य
हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

[लोकपालोंके आहारार्थ] रचे गये उस इस अन्नने [उनकी ओरसे] मुँह फेरकर भागना चाहा । तब उस (आदिपुरुष) ने उसे वागिन्द्रिय-द्वारा ग्रहण करना चाहा, [किन्तु] वह उसे वाणीसे ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे वाणीसे ग्रहण कर लेता, तो [उससे परवर्ती पुरुष भी] अन्नको बोलकर ही तृप्त हो जाया करते ॥ ३ ॥

तदेनदन्नं लोकलोकपालाना-मर्थेऽभिमुखे सृष्टं तद्यथा मूषकादिर्मार्जारादिगोचरे सन्मम मृत्युरन्नाद इति मत्वा परागञ्चतीति पराङ् सदत्यजिघांसदतिगन्तुमैच्छत् पलायितुं प्रारभतेत्यर्थः ।

तदन्नाभिप्रायं मत्वा स लोकलोकपालसंघातः कार्यकरणलक्षणः पिण्डः प्रथमजत्वाद् अन्यांश्चान्नादानपश्यंस्तदन्नं वाचा वदनव्यापारेणाजिघृक्षद् ग्रहीतुमैच्छत् । तदन्नं नाशक्नोन्न समर्थोऽभवद्वाचा वदनक्रियया ग्रहीतुमुपादातुम् । स प्रथमजः शरीरी यद्यदि हैनद्वाचाग्रहैष्यद् गृहीतवान्स्यादन्नं सर्वोऽपि लोकस्तत्कार्यभूतत्वादभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्तृप्तोऽभविष्यत्, न चैतदस्ति,

लोक और लोकपालोंके निमित्त उनके सम्मुख निर्मित हुआ अन्न यह मानकर कि अन्न भक्षण करनेवाला तो मेरी मृत्यु है, उनकी ओरसे मुख मोड़कर, जिस प्रकार बिलाव आदिके सामनेसे [उसे अपनी मृत्यु समझकर] चूहे आदि भागना चाहते हैं उसी प्रकार उन अन्न भक्षण करनेवालोंका अतिक्रमण करके जानेकी इच्छा करने लगा; अर्थात् उसने उनके सामनेसे दौड़ना आरम्भ कर दिया ।

अन्नके उस अभिप्रायको जानकर लोक और लोकपालोंके देह-इन्द्रियरूप संघात उस पिण्डने प्रथमोत्पन्न होनेके कारण अन्य अन्नभोक्ताओंको न देखकर उस अन्नको वाणी अर्थात् बोलनेकी क्रियासे ग्रहण करना चाहा । किन्तु वह वदनक्रियासे उस अन्नको ग्रहण करनेमें शक्त—समर्थ न हुआ । वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्नको वाणीसे ग्रहण कर लेता तो उसका कार्यभूत होनेके कारण सम्पूर्ण लोक अन्नको बोलकर ही तृप्त हो जाया करता । परन्तु बात यह है नहीं,

अतो नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुमि-त्यवगच्छामः पूर्वजोऽपि ॥३॥

अतः हमें जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न विराट् पुरुष भी उसे वाणीसे ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था ॥३॥

समानमुत्तरम्—

आगेका प्रसंग भी इसीके समान है—

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुम्। स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राण्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

फिर उसने इसे प्राणसे ग्रहण करना चाहा; किन्तु इसे प्राणसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ। यदि वह इसे प्राणसे ग्रहण कर लेता, तो [इस समय भी पुरुष] अन्नके उद्देश्यसे प्राणक्रिया करके ही तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद्दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

उसने इसे नेत्रसे ग्रहण करना चाहा; परन्तु नेत्रसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ। यदि वह इसे नेत्रसे ग्रहण कर लेता, तो [इस समय भी पुरुष] अन्नको देखकर ही तृप्त हो जाया करता ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुम्। स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

उसने इसे श्रोत्रसे ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह श्रोत्रसे ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे श्रोत्रसे ग्रहण कर लेता, तो [इस समय भी पुरुष] अन्नको सुनकर ही तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धैनत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

उसने इसे त्वचासे ग्रहण करना चाहा; [किन्तु] वह त्वचासे ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे त्वचासे ग्रहण कर लेता, तो [इस समय भी पुरुष] अन्नको स्पर्श करके तृप्त हो जाया करता ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धैनन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

उसने इसे मनसे ग्रहण करना चाहा; [किन्तु] वह मनसे ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे मनसे ग्रहण कर लेता, तो [इस समय भी पुरुष] अन्नका ध्यान करके ही तृप्त हो जाया करता ॥ ८ ॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

उसने इसे शिश्न (लिङ्ग) से ग्रहण करना चाहा; [परन्तु] वह शिश्नसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ । यदि वह इसे शिश्नसे ग्रहण कर लेता, तो [इस समय भी पुरुष] अन्नका विसर्जन करके ही तृप्त हो जाता ॥ ९ ॥

अपानद्वारा अन्नग्रहण

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वायुरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

[फिर] उसने इसे अपानसे ग्रहण करना चाहा । [और] इसे ग्रहण कर लिया । वह यह [अपान] ही अन्नका ग्रह (ग्रहण करनेवाला) है जो वायु अन्नायु (अन्नद्वारा जीवन धारण करनेवाला) प्रसिद्ध है वह यह [अपान] वायु ही है ॥ १० ॥

तत्प्राणेन तच्चक्षुषा तच्छ्रोत्रेण तत्त्वचा तन्मनसा तच्छिश्नेन तेन तेन करणव्यापारेणान्नं ग्रहीतुमशक्नुवन्पश्चादपानेन वायुना मुखच्छिद्रेण तदन्नमजिघृक्षत् । तदावयत्तदन्नमेवं जग्राह आशितवान् । तेन स एषोऽपानवायुरन्नस्य ग्रहोऽन्नग्राहक इत्येतत् । यद्वायुर्यो वायुरन्नायुः अन्नबन्धनोऽन्नजीवनो वै प्रसिद्धः स एष यो वायुः ॥ ४-१० ॥

[इसी प्रकार उसने] उस अन्नको प्राणसे, नेत्रसे, श्रोत्रसे, त्वचासे, मनसे, शिश्नसे एवं भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके व्यापारसे ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर अन्तमें उसे मुखके छिद्रद्वारा अपानवायुसे ग्रहण करनेकी इच्छा की। तब उसे ग्रहण कर लिया; अर्थात् इस प्रकार इस अन्नका भक्षण कर लिया। उसी कारणसे वह यह अपानवायु अन्नका ग्रह अर्थात् अन्न ग्रहण करनेवाला है। जो वायु अन्नायु—अन्नरूप बन्धनवाला अर्थात् अन्नरूप जीवनवाला प्रसिद्ध है वह यह [अपान] वायु ही है ॥ ४-१० ॥

परमात्माका शरीरप्रवेशसम्बन्धी विचार

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

उस परमेश्वरने विचार किया 'यह [पिण्ड] मेरे बिना कैसे रहेगा ?' वह सोचने लगा 'मैं किस मार्गसे [इसमें] प्रवेश करूँ ?' उसने विचारा, 'यदि [मेरे बिना] वाणीसे बोल लिया जाय, यदि प्राणसे प्राणन-क्रिया कर ली जाय, यदि नेत्रेन्द्रियसे देख लिया जाय, यदि कानसे सुना जाय,

सके, यदि त्वचासे स्पर्श कर लिया जाय, यदि मनसे चिन्तन कर लिया जाय, यदि अपानसे भक्षण कर लिया जाय, और यदि शिश्नसे विसर्जन किया जा सके, तो मैं कौन रहा ? [अर्थात् यदि मेरे बिना ये सब इन्द्रियोंके व्यापार हो जाते तो मेरा तो कोई प्रयोजन ही न था; तात्पर्य यह कि राजाकी प्रेरणाके बिना नगरके कार्योंके समान मेरी प्रेरणाके बिना इनका होना असम्भव है]' ॥ ११ ॥

स एवं लोकलोकपालसंघातस्थितिमन्ननिमित्तां कृत्वा पुरपौरतत्पालयितृस्थितिसमां स्वामीव ईक्षत—कथं नु केन प्रकारेणेति वितर्कयन्निदं मद्दते मामन्तरेण पुरस्वामिनम्, यदिदं कार्यकरणसंघातकार्यं वक्ष्यमाणं कथं नु खलु मामन्तरेण स्यात्परार्थं सत्। यदि वाचाभिव्याहृतमित्यादि केवलमेव वाग्व्यवहरणादि तन्निरर्थकं न कथंचन भवेद्बलिस्तुत्यादिवत्; पौरवन्द्यादिभिः प्रयुज्यमानं स्वाम्यर्थं सत्तत्स्वामिनमन्तरेणासत्येव स्वामिनि तद्वत्।

उस परमात्माने नगर, नगरनिवासी और उनके रक्षक [राजकर्मचारी आदि] के नियुक्तिके समान अन्नरूप निमित्तवाली लोक और लोकपालोंके संघातकी स्थिति कर नगरके स्वामीके समान विचार किया—'कथं नु' यानी किस प्रकारसे—इस प्रकार वितर्क करते हुए [उसने सोचा] यह जो आगे बतलाया जानेवाला कार्य (भूत) और करणों (इन्द्रियों) के संघातका कार्य (व्यापार) है वह परार्थ (दूसरेके लिये) होनेके कारण मेरे सिवा अर्थात् पुरके स्वामीरूप मेरे बिना कैसे होगा ? जिस प्रकार अपने स्वामीके लिये प्रयुक्त पुरवासी और बन्दीजन आदिकी बलि (कर) एवं स्तुति आदि स्वामीके बिना अर्थात् स्वामीके अभावमें निरर्थक ही है उसी प्रकार [मेरे बिना भी] यह जो वाणीसे बोलना आदि है अर्थात् केवल वाग्व्यापारादि है वह निरर्थक ही होगा यानी किसी प्रकार न हो सकेगा।

तस्मान्मया परेण स्वामिनाधिष्ठात्रा कृताकृतफलसाक्षिभूतेन भोक्त्रा भवितव्यं पुरस्येव राज्ञा । यदि नामैतत्संहतकार्यस्य परार्थत्वं परार्थिनं मां चेतनमन्तरेण भवेत्पुरपौरकार्यमिव तत्स्वामिनम्, अथ कोऽहं किंस्वरूपः कस्य वा स्वामी ?

यद्यहं कार्यकरणसंघातमनुप्रविश्य वागाद्यभिव्याहृतादिफलं नोपलभेय राजेव पुरमाविश्याधिकृतपुरुषकृताकृतावेक्षणम्; न कश्चिन्मामयं सन्नेवंरूपश्चेत्यधिगच्छेद्विचारयेत् । विपर्यये तु योऽयं वागाद्यभिव्याहृतादीदमिति वेद, स सन्वेदनरूपश्चेत्यधिगन्तव्योऽहं स्याम्; यदर्थ

अतः नगरके (अधिष्ठाता) राजाके समान इस देहरूप संघातके परम प्रभु और अधिष्ठाता मुझे भी इसके पाप-पुण्यके फलके साक्षी और भोक्ता-रूपसे स्थित होना चाहिये। यदि इस देहेन्द्रियसंघातका कार्य परार्थ (दूसरेके लिये) है और वह पुरस्वामीके बिना पुर और पुरवासियोंके कार्यके समान मुझ परार्थी अपने चेतन रक्षकके बिना हो सकता है तो मैं क्या रहा ? अर्थात् किस स्वरूपवाला अथवा किसका स्वामी रहा ?

जिस प्रकार राजा नगरमें प्रवेश-कर वहाँके अधिकारी पुरुषोंके कार्या-कार्यादिका निरीक्षण करता है उसी प्रकार यदि मैं भी इस भूत और इन्द्रियोंके संघातमें प्रवेश करके वाणी आदिके उच्चारणादि फलको ग्रहण न करूँगा तो कोई भी मुझे 'यह सत् है और ऐसे स्वरूपवाला है' ऐसा अधिगम—विचार नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत अवस्थामें ही मैं इस प्रकार जाना जा सकता हूँ कि जिस प्रकार स्तम्भ और भित्ति आदिसे मिलकर बने हुए मन्दिर आदि संघात अपने अवयवोंके सहित किसी अन्य असंहत वस्तुके लिये

मिदं संहतानां वागादीनामभिव्याहृतादि, यथा स्तम्भकुड्यादीनां प्रासादादिसंहतानां स्वावयवैरसंहतपरार्थत्वं तद्वदिति ।

एवमीक्षित्वातः कतरेण प्रपद्या इति । प्रपदं च मूर्धा चास्य संघातस्य प्रवेशमार्गौ । अनयोः कतरेण मार्गेणेदं कार्यकरण संघातलक्षणं पुरं प्रपद्यै प्रपद्येयेति ॥ ११ ॥

होते हैं उसी प्रकार जिसके लिये इस संघातरूप वाणी आदिके उच्चारणादि व्यापार हैं और जो इन वाणी आदिके उच्चारणादिको 'इदम्' इस प्रकार जानता है वह मैं सत और चेतनस्वरूप हूँ ।

इस प्रकार विचारकर [उसने सोचा] अतः मैं किस द्वारसे प्रवेश करूँ ? इस संघातमें प्रवेश करनेके दो मार्ग हैं—पदाग्र और मूर्धा । इनमेंसे मैं किस मार्गसे इस कार्य-करणके संघातरूप पुरमें प्रवेश करूँ ? ॥ ११ ॥

परमात्माका मूर्द्धद्वारसे शरीरप्रवेश

एवमीक्षित्वा न तावन्मद्भृत्यस्य प्राणस्य मम सर्वार्थाधिकृतस्य प्रवेशमार्गेण प्रपदाभ्यामधः प्रपद्ये । किं तर्हि पारिशेष्यादस्य मूर्धानं विदार्य प्रपद्येयमिति लोक इवेक्षितकारी—

इस प्रकार विचारकर परमेश्वरने निश्चय किया—'मैं सम्पूर्ण कार्योंके अधिकारी अपने सेवक प्राणके प्रवेश-मार्ग निम्नदेशीय चरणाग्रोंसे तो प्रवेश करूँगा नहीं । तो फिर किससे करूँगा ? अतः पदाग्रको त्याग कर बचे हुए मूर्धाको ही विदीर्ण करके प्रवेश करूँगा । इस प्रकार सोच-समझकर काम करनेवाले लोगोंके समान—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथास्

त्रयः स्वप्नाः—अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

वह इस सीमा (मूर्द्धा) को ही विदीर्णकर इसीके द्वारा प्रवेश कर गया। वह यह द्वार 'विदृति' नामवाला है, यह नान्दन (आनन्द) है। यह आवसथ [नेत्र], यह आवसथ [कण्ठ], यह आवसथ [हृदय] इस प्रकार इसके तीन आवसथ (वासस्थान) और तीन स्वप्न हैं ॥ १२ ॥

स स्रष्टेश्वर एतमेव मूर्धसीमानं केशविभागावसानं विदार्य च्छिद्रीकृत्वैतया द्वारा मार्गेणेमं लोकं कार्यकरणसंघातं प्रापद्यत प्रविवेश । सेयं हि प्रसिद्धा द्वाः मूर्ध्नि तैलादिधारणकाले अन्तस्तद्रसादिसंवेदनात् । सैषा विदृतिर्विदारितत्वाद्विदृतिर्नाम प्रसिद्धा द्वाः ।

इतराणि तु श्रोत्रादिद्वाराणि भृत्यादिस्थानीयसाधारणमार्गत्वान्न समृद्धीनि नानन्दहेतूनि । इदं तु द्वारं परमेश्वरस्यैव केवलस्येति तदेतन्नान्दनं नन्दनमेव ।

वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धसीमाको ही, जिसका केशोंका विभाग ही अवसान है, विदीर्ण कर अर्थात् उसमें छिद्र कर उसीके द्वारा—उस मार्गसे ही इस लोक अर्थात् भूत और इन्द्रियोंके संघातमें प्रवेश कर गया। वही प्रसिद्ध द्वार है; क्योंकि शिरमें तैल आदि धारण करते समय भीतर उसके रसादिका अनुभव होता है। विदीर्ण किया जानेके कारण वह द्वार 'विदृति' अर्थात् विदृति नामसे प्रसिद्ध है।

इससे भिन्न जो श्रोत्रादि द्वार हैं वे भृत्यादिरूप साधारण मार्ग होनेके कारण समृद्ध अर्थात् आनन्दके हेतु नहीं हैं। किन्तु यह मार्ग तो केवल परमेश्वरका ही है। अतः यह नान्दन (आनन्दप्रद) है। नन्दनको ही यहाँ नान्दन कहा है।

नान्दनमिति दैर्घ्यं छान्दसम् नन्दत्यनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन्ब्रह्मणीति ।

'नान्दनम्' इस पद [के नकार] में दीर्घता वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है। तात्पर्य यह है कि इस मार्गसे जाकर पुरुष परब्रह्ममें आनन्द प्राप्त करने लगता है ।

तस्यैवं सृष्ट्वा प्रविष्टस्य जीवेनात्मना राज्ञ इव पुरं त्रय आवसथाः । जागरितकाल इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षुः, स्वप्नकालेऽन्तर्मनः, सुषुप्तिकाले हृदयाकाश इत्येतत् । वक्ष्यमाणा वा त्रय आवसथाः; पितृशरीरं मातृगर्भाशयः स्वं च शरीरमिति ।

पुरमें प्रविष्ट हुए राजाके समान इस प्रकार रचना करके उसमें जीवरूपसे प्रवेश करनेवाले उस ईश्वरके तीन आवसथ हैं—(१) जाग्रत् कालमें इन्द्रियोंका स्थान दक्षिण नेत्र, (२) स्वप्नकालमें मनके भीतर और (३) सुषुप्तिमें हृदयाकाशके अंदर । अथवा आगे बतलाये जानेवाले पितृदेह, मातृगर्भाशय और अपना ही शरीर—ये ही तीन आवसथ हैं ।

त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः । ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्नः; नैवम्, स्वप्न एव । कथम् ? परमार्थस्वात्मप्रबोधाभावात्स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च । अयमेवावसथश्चक्षुर्दक्षिणं प्रथमः, मनोऽन्तरं द्वितीयः, हृदयाकाशस्तृतीयः ।

तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं । यदि कहो कि प्रबोधरूप होनेके कारण जाग्रत स्वप्न नहीं है, तो ऐसी बात नहीं है; वह भी स्वप्न ही है । किस प्रकार ? क्योंकि उस समय परमार्थ आत्मस्वरूपके बोधका अभाव होता है और स्वप्नके समान असत् वस्तुएँ दिखलायी दिया करती हैं । [उन आवसथोंमें] यह दक्षिण नेत्र ही प्रथम है मनका अन्तर्भाग द्वितीय है और हृदयाकाश तृतीय है ।

अयमावसथ इत्युक्तानुकीर्तनमेव। तेषु ह्ययमावसथेषु पर्यायेणात्मभावेन वर्तमानोऽविद्यया दीर्घकालं गाढप्रसुप्तः स्वाभाविक्या न प्रबुध्यतेऽनेकशतसहस्रानर्थसंनिपातजदुःखमुद्गराभिघातानुभवैरपि ॥ १२ ॥

अयमावसथः [ऐसा जो तीन बार कहा गया है] यह पूर्वकथित-का ही अनुकीर्तन है । उन आवसथोंमें क्रमशः आत्मभावसे रहनेवाला यह जीव दीर्घकालतक स्वाभाविक अविद्यासे गाढ़ निद्रामें सोता रहता है और अनेकों शत-सहस्र अनर्थोंकी प्राप्तिसे होनेवाले दुःखरूप मुद्गरोंके आघातके अनुभव-से भी नहीं जागता ॥ १२ ॥

जीवका मोह और उसकी निवृत्ति

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् इदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

[इस प्रकार शरीरमें प्रवेश करके जीवरूपसे] उत्पन्न हुए उस परमेश्वरने भूतोंको [तादात्म्यभावसे] ग्रहण किया और [गुरुकृपासे बोध होनेपर] 'यहाँ [मेरे सिवा] अन्य कौन है' ऐसा कहा । और मैंने इसे (अपने आत्मस्वरूपको) देख लिया है, इस प्रकार उसने इस पुरुषको ही पूर्णतम ब्रह्मरूपसे देखा ॥ १३ ॥

स जातः शरीरे प्रविष्टो जीवात्मना भूतान्यभिव्यैख्यद्व्याकरोत् । स कदाचित्परमकारुणिकेनाचार्येणात्मज्ञानप्रबोधक-

उसने उत्पन्न होकर—जीवभावसे शरीरमें प्रविष्ट होकर भूतोंको व्याकृत किया [अर्थात् उन्हें तादात्म्यरूपसे ग्रहण किया] । फिर किसी समय परम कारुणिक आचार्यके द्वारा अपने कर्णमूलमें—जिसका शब्द आत्मज्ञानका दृढ़बोध कराने-

च्छब्दिकायां वेदान्तमहावाक्यभेर्यां तत्कर्णमूले ताड्यमानाया-मेतमेव सृष्टयादिकर्तृत्वेन प्रकृतं पुरुषं पुरि शयानमात्मानं ब्रह्म बृहत्ततमं तकारेणैकेन लुप्तेन तततमं व्याप्ततमं परिपूर्णमाकाशवत्प्रत्यबुध्यतापश्यत् । कथम् ? इदं ब्रह्म ममात्मनः स्वरूपमदर्शं दृष्टवानस्मि, अहा इति, विचारणार्था प्लुतिः पूर्वम् ॥ १३ ॥

वाला है ऐसी—वेदान्तवाक्यरूप महाभेरीके बजाये जानेपर उसने, जिसका सृष्टि आदिके कर्तृत्वरूपसे प्रकरण चला हुआ है उस पुरुष—[शरीररूप] पुरमें शयन करनेवाले आत्माको ततम—इसमें एक तकारका लोप हुआ है। अतः तततम—व्याप्ततम अर्थात् आकाशके समान परिपूर्ण महान् ब्रह्मरूपसे जाना—साक्षात्कार किया । किस प्रकार साक्षात्कार किया [सो बतलाते हैं—] 'अहो ! मैंने अपने आत्माके स्वरूपको ही इस ब्रह्मरूपसे देखा है' इस प्रकार । यहाँ 'इति' पदमें जो प्लुत उच्चारण है वह विचार प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ १३ ॥

'इन्द्र' शब्दकी व्युत्पत्ति

यस्मादिदमित्येव यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरमपश्यत् परोक्षेण—

क्योंकि जो [जीवरूपसे] सबके भीतर रहनेवाला ब्रह्म 'इदम् (यह)' इस प्रकार साक्षात् अपरोक्षरूपसे स्थित है उसे परोक्षरूपसे देखा था—

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम । तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः, परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥[1]

---

1 अन्तिम वाक्य बृहदारण्यकोपनिषद् ४.२.२. ऐतरेयब्राह्मण 3.33, 2. ...

इसलिये उसका नाम 'इदन्द्र' हुआ, वह 'इदन्द्र' नामसे प्रसिद्ध है। 'इदन्द्र' होनेपर ही (ब्रह्मवेत्ता लोग) उसे परोक्षरूपसे 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं, क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं, देवता परोक्षप्रिय ही होते हैं ॥ १४ ॥

तस्मादिदं पश्यतीतीदन्द्रो नाम परमात्मा । इदन्द्रो ह वै नाम प्रसिद्धो लोक ईश्वरः । तमेवमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इति परोक्षेण परोक्षाभिधानेनाचक्षते ब्रह्मविदः संव्यवहारार्थम् पूज्यतमत्वात्प्रत्यक्षनामग्रहणभयात् । तथा हि परोक्षप्रियाः परोक्षनामग्रहणप्रिया इव एव हि यस्माद्देवाः; किमुत सर्वदेवानामपि देवो महेश्वरः । द्विवचनं प्रकृताध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १४ ॥

इसलिये जो इसे देखता है वह परमात्मा 'इदन्द्र' नामवाला है। लोकमें ईश्वर 'इदन्द्र' नामसे प्रसिद्ध है । इस प्रकार 'इन्द्र' होनेपर भी ब्रह्मवेत्ता व्यवहारके लिये उसे 'इन्द्र' इस परोक्ष नामसे पुकारते हैं; क्योंकि पूज्यतम होनेके कारण उसका प्रत्यक्ष नाम लेनेमें उन्हें भय है । जब कि देवता लोग भी परोक्षप्रिय अर्थात् अपना परोक्ष नाम ग्रहण किया जाना ही प्रिय माननेवाले हैं तब सम्पूर्ण देवताओंके भी देव महेश्वरका तो कहना ही क्या है ? प्रकृत अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये यहाँ दो बार कहा गया है ॥ १४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये
तृतीयः खण्डः समाप्तः ॥ ३ ॥

उपनिषत्क्रमेण प्रथमः, आरण्यकक्रमेण
इति प्रथमो चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वितीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

प्रस्तावना

अतीताध्याय-विषयावलोकनम्

अस्मिश्चतुर्थेऽध्याय एष वाक्यार्थः—जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकृदसंसारी सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्ववित्सर्वमिदं जगत्स्वतोऽन्यद्वस्त्वन्तरमनुपादायैव आकाशादिक्रमेण सृष्ट्वा स्वात्मप्रबोधनार्थं सर्वाणि च प्राणादिमच्छरीराणि स्वयं प्रविवेश। प्रविश्य च स्वमात्मानं यथाभूतमिदं ब्रह्मास्मीति साक्षात्प्रत्यबुध्यत। तस्मात्स एव सर्वशरीरेष्वेक एवात्मा नान्य इति। अन्योऽपि "स्म आत्मा ब्रह्मास्मीत्येवं विद्यात्" इति।

इस (पूर्वोक्त) चौथे* अध्यायमें यह वाक्यार्थ विवक्षित है—† जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले असंसारी सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञने अपनेसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको ग्रहण किये बिना ही इस सम्पूर्ण जगत्की आकाशादिक्रमसे रचना कर अपनेको स्वयं ही जाननेके लिये सम्पूर्ण प्राणादियुक्त शरीरमें स्वयं ही प्रवेश किया। और प्रवेश करके 'मैं यह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूपका साक्षात् बोध प्राप्त किया। अतः समस्त शरीरमें एकमात्र वही आत्मा है, उससे भिन्न नहीं। इसके सिवा "[सम्पूर्ण भूतोंमें] जो सम आत्मा ब्रह्म है वह मैं हूँ—ऐसा जाने"

* आरण्यकके क्रमसे यहाँ चौथी संख्या कही गयी है।

† पूर्व अध्यायमें आत्माकी एकता, लोक तथा लोकपालोंकी सृष्टि और क्षुधा-पिपासासे संयोग आदि अनेक विषयोंका वर्णन है। उनमें विवक्षित अभिप्रायका प्रतिपादन किया जाता है।

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (१।१।१) इति "ब्रह्म ततमम्" (१।३।१३) इति चोक्तम्। अन्यत्र च।

"निश्चय पहले एक आत्मा ही था" तथा "[उसने] ब्रह्मको [आकाशके समान] अतिशय व्याप्त [जाना]" ऐसा भी कहा है। और [ऐसा ही] अन्य उपनिषदोंमें भी कहा है।

प्रवेशश्रुति-विचारः सर्वगतस्य सर्वात्मनो बालाग्रमात्रमप्यप्रविष्टं नास्तीति कथं सीमानं विदार्य प्रापद्यत पिपीलिकेव सुषिरम्।

पूर्व०—उस सर्वगत सर्वात्माके लिये तो बालका अग्रभाग भी अप्रविष्ट नहीं है; फिर वह चींटीके बिलप्रवेशके समान मूर्धसीमाको विदीर्णकर किस प्रकार मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट हुआ?

नन्वत्यल्पमिदं चोद्यं बहु चात्र चोदयितव्यम्। अकरणः सन्नीक्षत। अनुपादाय किंचिल्लोकानसृजत। अद्भ्यः पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्। तस्याभिध्यानान्मुखादि निर्भिन्नं मुखादिभ्यश्चाग्न्यादयो लोकपालास्तेषां चाशनायापिपासादिसंयोजनं, तदायतनप्रार्थनं तदर्थं गवादि-

सिद्धान्ती—तुम्हारा यह प्रश्न तो अल्प है। अभी तो उपर्युक्त कथनमें बहुत कुछ पूछनेयोग्य बातें हैं। उसने इन्द्रियहीन होकर भी ईक्षण किया। किसी उपादानके बिना ही लोकोंकी रचना की। जलमेंसे पुरुष निकालकर उसे अवयवयोजनाद्वारा पुष्ट किया। अभिध्यानके द्वारा उसका मुख प्रकट हुआ तथा मुखादिसे अग्नि आदि लोकपाल प्रकट हुए। उनका क्षुधा-पिपासादिसे संयोग कराना, उनका आयतनके लिये प्रार्थना करना, उसके लिये गौ आदि

प्रदर्शनं तेषां यथायतनप्रवेशनं सृष्टस्यान्नस्य पलायनं वागादिभिस्तज्जिघृक्षा; एतत्सर्वं सीमाविदारणप्रवेशसममेव।

दिखलाना, उन देवताओंका अपने-अपने अनुकूल आयतनोंमें प्रवेश करना, उत्पन्न हुए अन्नका भागना और उसे वाक् आदि इन्द्रियों-द्वारा ग्रहण करनेकी इच्छा करना—ये सब बातें भी सीमा विदीर्ण करने और शरीरमें प्रवेश करनेके समान ही [आश्चर्यजनक] हैं।

अस्तु तर्हि सर्वमेवेदमनुपपन्नम् ।

पूर्व०—अच्छा तो, इन सभी बातोंको अनुपपन्न (असम्भव) मान लो।

न; अत्रात्मावबोधमात्रस्य विवक्षितत्वात्सर्वोऽयमर्थवाद इत्यदोषः। मायाविवद्वा महामायावी देवः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वमेतच्चकार। सुखावबोधनप्रतिपत्त्यर्थं लोकवदाख्यायिकादिप्रपञ्च इति युक्ततरः पक्षः। न हि सृष्टयाख्यायिकादिपरिज्ञानात्किंचित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम् ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि श्रुतिको यहाँ केवल आत्मावबोधमात्र कहना अभीष्ट होनेसे यह सब अर्थवाद है; अतः इसमें कोई दोष नहीं है। अथवा मायावीके समान महामायावी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभुने इस सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, और इस रहस्यका सरलतासे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही लौकिक रीतिसे यह आख्यायिका आदिकी रचना की गयी है—इस प्रकार भी यह पक्ष युक्तियुक्त जान पड़ता है; क्योंकि केवल लोक-रचनाकी आख्यायिका आदिके परिज्ञानसे कुछ भी फल नहीं मिलता। परन्तु आत्माके एकत्व और यथार्थ स्वरूपके ज्ञानसे अमरत्वरूप फल [प्राप्त होता है—यह] सभी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है।

स्मृतिषु च गीताद्यासु "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" (गीता १३ । २७) इत्यादिना ।

आत्मैकत्वविचारः

ननु त्रय आत्मानः । भोक्ता कर्ता संसारी जीव एकः सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्धः । अनेकप्राणिकर्मफलापभोगयोग्यानेकाधिष्ठानवल्लोकदेहनिर्माणेन लिङ्गेन यथाशास्त्रप्रदर्शितेन पुरप्रासादादिनिर्माणलिङ्गेन तद्विषयकौशलज्ञानवांस्तत्कर्ता तक्षादिरिवेश्वरःसर्वज्ञो जगतः कर्ता द्वितीयश्चेतन आत्मा अवगम्यते । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) "नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध औपनिषदः पुरुषस्तृतीयः एवमेते त्रय आत्मानोऽन्योन्यविलक्षणाः तत्र कथमेक एव आत्मा अद्वितीयः असंसारीति ज्ञातुं शक्यते ?

तथा "सम्पूर्ण भूतोंमें समान भावसे स्थित परमेश्वरको" इत्यादि वाक्यों द्वारा गीता आदि स्मृतियोंमें भी [यही बात कही गयी है] ।

पूर्व०—आत्मा तो तीन हैं; उनमें एक तो सम्पूर्ण लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध कर्ता भोक्ता संसारी जीव है । नगर और प्रासादादिके निर्माणके लिङ्गसे जिस प्रकार तत्सम्बन्धी कौशलके ज्ञानवाले उनके रचयिता तथा (कारीगर) आदिका ज्ञान होता है उसी प्रकार अनेक प्राणियोंके कर्मफलके उपभोग योग्य अनेकों अधिष्ठानोंवाले लोक और देहकी रचनाके शास्त्रप्रदर्शित लिङ्गसे दूसरे चेतन आत्मा—जगत्-कर्ता सर्वज्ञ ईश्वरका ज्ञान होता है । तथा तीसरा आत्मा "जहाँसे वाणी लौट आती है" एवं "यह नहीं, यह नहीं" इत्यादि शास्त्रसे प्रसिद्ध औपनिषद पुरुष है । इस प्रकार ये तीनों आत्मा एक दूसरेसे विलक्षण हैं । अतः यह कैसे जाना जा सकता है कि आत्मा एक, अद्वितीय और असंसारी ही है ?

तत्र जीव एव तावत्कथं ज्ञायते ?

नन्वेवं ज्ञायते श्रोता मन्ता द्रष्टा आदेष्टा आघोष्टा विज्ञाता प्रज्ञातेति ।

ननु विप्रतिषिद्धं ज्ञायते यः श्रवणादिकर्तृत्वेनामतो मन्ता-विज्ञातो विज्ञातेति च । तथा "न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीयाः" (बृ०उ० ३ । ४ । २) इत्यादि च ।

सत्यं विप्रतिषिद्धम्, यदि प्रत्यक्षेण ज्ञायेत सुखादिवत् । प्रत्यक्षज्ञानं च निवार्यते "न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः" (बृ० उ० ३ । ३ । २) इत्यादिना । ज्ञायते तु श्रवणादिलिङ्गेन; तत्र कुतो विप्रतिषेधः ।

ननु श्रवणादिलिङ्गेनापि कथं ज्ञायते ? यावता यदा शृणोत्यात्मा श्रोतव्यं शब्दं तदा तस्य

[1]सिद्धान्ती–इन तीनोंमें पहले जीवका ही ज्ञान कैसे होता है ?

पूर्व०–इस प्रकार ज्ञान होता है कि 'वह श्रवण करनेवाला, मनन करनेवाला, द्रष्टा, आज्ञा करनेवाला, शब्द उच्चारण करनेवाला, [2]विज्ञाता और [3]प्रज्ञाता है ।'

सिद्धान्ती–परन्तु जिसका श्रवणादिके कर्तारूपसे ज्ञान होता है उसे 'अमत और मनन करनेवाला, अविज्ञात और विशेष रूपसे जानने-वाला' इस प्रकार कहना तथा "मति-के मनन करनेवालेका मनन न करो, विज्ञातिके विज्ञाताको न जानो" इत्यादि श्रुतिवचन भी विरुद्ध होगा ।

पूर्व०–यदि उसे सुखादिके समान प्रत्यक्षरूपसे जाना जाय तो अवश्य विरुद्ध होगा । किन्तु "मतिके मनन करनेवालेका मनन न करो" इत्यादि वाक्यसे उसके प्रत्यक्षज्ञानका निवारण किया गया है । उसका ज्ञान तो श्रवणादि लिङ्गसे होता है; फिर इसमें विरोध कहाँ है ?

सिद्धान्ती–श्रवणादि लिङ्गसे भी आत्माका ज्ञान किसी प्रकार हो सकता है ? क्योंकि जब और जिस समय आत्मा सुननेयोग्य शब्दको सुनता है उस समय श्रवणक्रियाके

१. सिद्धान्तीकी यह उक्ति पहले आत्मामें बतलाये हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मोंका प्रतिषेध करनेके लिये है ।

२. विशेष जाननेवाला । ३. सबसे अधिक जाननेवाला ।

श्रवणक्रिययैव वर्तमानत्वान्मननविज्ञानक्रिये न संभवतः आत्मनि परत्र वा । तथान्यत्रापि मननादिक्रियासु । श्रवणादिक्रियाश्च स्वविषयेष्वेव । न हि मन्तव्यादन्यत्र मन्तुर्मननक्रिया संभवति ।

साथ ही वर्तमान रहनेके कारण उसके लिये अपनेमें अथवा अन्यत्र मनन या विज्ञानरूप क्रियाएँ संभव नहीं । [इस प्रकार विजातीय क्रियाओंकी समकालीनताका निषेध करके अब सजातीय क्रियाओंका निषेध करते हैं—इसी प्रकार अन्यत्र मनन आदि क्रियाओंमें भी समझना चाहिये । श्रवणादि क्रियाएँ भी अपने विषयोंमें ही प्रवृत्त हो सकती हैं (आश्रयमें नहीं) । मनन करनेवालेकी मननक्रिया मन्तव्यसे भिन्न स्थानमें सम्भव नहीं है ।

ननु मनसा सर्वमेव मन्तव्यम् ।

पूर्व०—मनसे तो सभीका मनन किया जाता है ।

सत्यमेवं तथापि सर्वमपि मन्तव्यं मन्तारमन्तरेण न मन्तुं शक्यम् ।

सिद्धान्ती—यह ठीक है; परन्तु जो कुछ मनन किया जाता है वह सब मननकर्ताके बिना नहीं किया जा सकता ।

यद्येवं किं स्यात् ?

पूर्व०—यदि ऐसा हो भी तो इससे क्या होगा ?

इदमत्र स्यात्; सर्वस्य योऽयं मन्ता स मन्तैवेति न स मन्तव्यः स्यात् । न च द्वितीयो मन्तुर्मन्तास्ति । यदा स आत्मनैव

सिद्धान्ती—इससे यहाँ यह होगा कि जो इस सबका मनन करनेवाला है वह मनन करनेवाला ही रहेगा, मन्तव्य नहीं होगा । तथा उस मनन करनेवालेका कोई दूसरा मननकर्ता भी नहीं है । यदि उसे

मन्तव्यस्तदा येन च मन्तव्यः आत्मा आत्मना यश्च मन्तव्य आत्मा तौ द्वौ प्रसज्येयाताम् । एक एवात्मा द्विधा मन्तृमन्तव्यत्वेन द्विशकलीभवेद्वंशादिवत् उभयथाप्यनुपपत्तिरेव । यथा प्रदीपयोः प्रकाश्यप्रकाशकत्वानुपपत्तिः समत्वात्तद्वत् ।

न च मन्तुर्मन्तव्ये मननव्यापारशून्यः कालोऽस्त्यात्ममननाय । यदापि लिङ्गेनात्मानं मनुते मन्ता; तदापि पूर्ववदेव लिङ्गेन मन्तव्य आत्मा यश्च तस्य मन्ता तौ द्वौ प्रसज्येयाताम् । एक एव वा द्विधेति पूर्वोक्तदोषः । न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन ज्ञायते चेत् कथमुच्यते "स म आत्मेति विद्यात्" (कौषी० ३ । ९) इति ? कथं वा श्रोता मन्तेत्यादि ?

आत्माद्वारा ही मन्तव्य माना जाय तो जिस आत्मासे आत्मा मनन किया जाता है और जिस आत्माका मनन किया जाता है उनके दो होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा । अथवा बाँस आदिके समान एक ही आत्मा मन्ता और मन्तव्यरूपसे दो भागोंमें विभक्त माना जायगा । किन्तु उपर्युक्त दोनों अनुपपत्ति ही है । जैसे कि समानरूप होनेके कारण दो दीपकोंका परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं बन सकता, उसी प्रकार (यहाँ समझना चाहिये) ।

इसके सिवा मन्ताको अपना मनन करनेके लिये मन्तव्य पदार्थोंका मनन करनेके व्यापारसे रहित कोई काल भी नहीं है । जिस समय भी किसी लिङ्गके द्वारा मन्ता अपना मनन करता है उस समय भी पहलेहीके समान लिङ्गसे मन्तव्य आत्मा और जो कोई उसका मनन करनेवाला है वे दो सिद्ध होते हैं; अथवा एक ही दो भागोंमें विभक्त है—इस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित हो जाता है । और यदि वह न प्रत्यक्षसे जाना जाता है और न अनुमानसे तो ऐसा क्यों कहते हैं कि "वह मेरा आत्मा है—ऐसा जाने" और क्यों उसे श्रोता-मन्ता इत्यादि बतलाते हैं ?

ननु श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा, अश्रोतृत्वादि च प्रसिद्धमात्मनः। किमत्र विषमं पश्यसि ?

पूर्व०-आत्मा तो श्रोतृत्वादि धर्मवाला है और आत्माके अश्रोतृत्व आदि धर्म भी [श्रुतिमें] प्रसिद्ध हैं। फिर इसमें तुम्हें विषमता क्या दिखलायी देती है ?

यद्यपि तव न विषमं तथापि मम तु विषमं प्रतिभाति। कथम् ? यदासौ श्रोता तदा न मन्ता यदा मन्ता तदा न श्रोता। तत्रैवं सति पक्षे श्रोता मन्ता पक्षे न श्रोता नापि मन्ता। तथान्यत्रापि च।

सिद्धान्ती-यद्यपि तुझे कोई विषमता ज्ञात नहीं होती, तथापि मुझे तो होती ही है। किस प्रकार कि जिस समय यह श्रोता होता है उस समय मन्ता नहीं होता और जब मन्ता होता है तब श्रोता नहीं होता। ऐसा होनेके कारण वह एक पक्षमें श्रोता और मन्ता है तो दूसरे पक्षमें न श्रोता है और न मन्ता ही है। ऐसा ही अन्यत्र (विज्ञाता आदिके सम्बन्धमें) भी समझना चाहिये।

यदैवं तदा श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा अश्रोतृत्वादिधर्मवान्वेति संशयस्थाने कथं तव न वैषम्यम्। यदा देवदत्तो गच्छति तदा न स्थाता गन्तैव। यदा तिष्ठति तदा न गन्ता स्थातैव। तदा अस्य पक्ष एव गन्तृत्वं स्थातृत्वं

जब कि ऐसी बात है तब आत्मा श्रोतृत्वादि धर्मवाला है अथवा अश्रोतृत्वादि धर्मवाला ? इस प्रकार संशयस्थान उपस्थित होनेपर तुझे विषमता क्यों नहीं दिखायी देती ? जिस समय देवदत्त चलता है उस समय वह चलनेवाला ही होता है ठहरनेवाला नहीं होता, तथा जिस समय वह ठहरता है उस समय वह ठहरनेवाला ही होता है, चलनेवाला नहीं होता। ऐसी अवस्थामें इसका गन्तृत्व और स्थातृत्व पाक्षिक

च। न नित्यं गन्तृत्वं स्थातृत्वं वा। तद्वत्।

ही होता है, नित्यगन्तृत्व अथवा नित्यस्थातृत्व नहीं होता। इसी प्रकार [आत्माका श्रोतृत्वादि भी पाक्षिक ही सिद्ध होगा, नित्य नहीं]।

तथैवात्र काणादादयः पश्यन्ति। पक्षप्राप्तेनैव श्रोतृत्वादिना आत्मोच्यते श्रोता मन्तेत्यादिवचनात्। संयोगजत्वमयौगपद्यं च ज्ञानस्य ह्याचक्षते। दर्शयन्ति चान्यत्रमना अभूवं नादर्शमित्यादि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति च न्याय्यम्।

काणाद आदि अन्य मतावलम्बी भी इस विषयमें ऐसा ही समझते हैं; क्योंकि इस विषयमें उनका कथन है कि पक्षमें प्राप्त होनेवाले श्रोतृत्वादिके कारण ही आत्मा श्रोता, मन्ता इत्यादि कहा जाता है। वे ज्ञानका संयोगजत्व (इन्द्रिय और मनके संयोगसे उत्पन्न होना) और अयौगपद्य (एक साथ न होना) प्रतिपादन करते हैं! और मनको एक साथ ज्ञान उत्पन्न न होनेमें वे 'मैं अन्यमनस्क था, इसलिये न देख सका' इत्यादि लिङ्ग प्रदर्शित करते हैं और यह युक्तिसङ्गत भी है।

भवत्वेवम्; किं तव नष्टं यद्येवं स्यात्?

पूर्व०—ऐसा सिद्धान्त भले ही रहे; किन्तु यदि ऐसा हो भी तो तुम्हारी क्या हानि है?

अस्त्वेवं तवेष्टं चेत्। श्रुत्यर्थस्तु न संभवति।

सिद्धान्ती—यदि तुम्हें अभिमत हो तो तुम्हारे लिये ऐसा भले ही हो; परन्तु यह श्रुतिका तात्पर्य तो हो नहीं सकता!

किं न श्रोता मन्तेत्यादिश्रुत्यर्थः?

पूर्व०—क्या श्रोता, मन्ता इत्यादि श्रुतिका अर्थ नहीं है?

न; न श्रोता न मन्तेत्यादिवचनात्।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि [श्रुतिमें तो] 'न श्रोता है न मन्ता है' इत्यादि भी कहा है।

ननु पाक्षिकत्वेन प्रत्युक्तं त्वया ।

पूर्व०—परन्तु इस विरोधको तो तुमने पाक्षिक बतलाकर खण्डित कर दिया है ।

न; नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमात् । "न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २७) इत्यादिश्रुतेः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि आत्माका श्रोतृत्व आदि तो नित्य ही माना गया है, जैसा कि "श्रोताकी श्रुतिका लोप कभी नहीं होता" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

एवं तर्हि नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमे प्रत्यक्षविरुद्धा युगपज्ज्ञानोत्पत्तिरज्ञानाभावश्चात्मनः कल्पितः स्यात् । तच्चानिष्टमिति ।

पूर्व०—ऐसी दशामें तो आत्माका नित्य श्रोतृत्वादि माननेपर प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनेक ज्ञानोंका एक साथ उत्पन्न होना और आत्मामें अज्ञानका अभाव ये दो बातें माननी पड़ेंगी । किन्तु यह किसीको अभीष्ट नहीं है ।

नोभयदोषोपपत्तिः । आत्मनः श्रुत्यादिश्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वश्रुतेः । अनित्यानां मूर्तानां च चक्षुरादीनां दृष्ट्याद्यनित्यमेव संयोगवियोगधर्मिणाम्, यथाग्नेर्ज्वलनं तृणादिसंयोगजत्वात्तद्वत् । न तु नित्यस्यामूर्तस्यासंयोगवियोगध-

सिद्धान्ती—इन दोनों दोषोंकी सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि श्रुतिके कथनानुसार आत्मा श्रुति आदिके श्रोतृत्वादि धर्मवाला है * जिस प्रकार अग्निका प्रज्वलित होना, तृणादिके संयोगसे होनेके कारण, अनित्य है; उसी प्रकार संयोग-वियोगधर्मी, मूर्त्त एवं अनित्य चक्षु आदिके धर्म दृष्टि आदि अनित्य ही हैं । किन्तु जो नित्य, अमूर्त्त और संयोग-वियोग-धर्मसे

* अर्थात् वह श्रुतिका श्रोता, मतिका मन्ता तथा विज्ञाता आदि रूपसे प्रसिद्ध है ।

र्मिणः संयोगजदृष्ट्याद्यनित्यधर्मवत्त्वं संभवति। तथा च श्रुतिः "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४।३।२३) इत्याद्या। एवं तर्हि द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मनः। तथा च द्वे श्रुती श्रोत्रस्यानित्या नित्या चात्मस्वरूपस्य। तथा द्वे मती विज्ञाती बाह्याबाह्ये एवं ह्येव। तथा चेयं श्रुतिरुपपन्ना भवति "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता" इत्याद्या।

रहित है उस (आत्मा) का संयोगजनित दृष्टि आदि अनित्य धर्मोंसे युक्त होना सम्भव नहीं है। ऐसी ही "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति भी है। इस प्रकार दो दृष्टि सिद्ध होती हैं—(१) नेत्रकी अनित्य दृष्टि और (२) आत्माकी नित्य दृष्टि। इसी प्रकार दो श्रुति हैं—श्रोत्रकी अनित्य श्रुति और आत्माकी नित्य श्रुति। तथा इसी प्रकार बाह्य और अबाह्यरूप दो मति और दो विज्ञाति हैं। ऐसी अवस्थामें ही "दृष्टिका द्रष्टा है, श्रुतिका श्रोता है" इत्यादि श्रुति सार्थक हो सकती है।

लोकेऽपि प्रसिद्धं चक्षुषस्तिमिरागमापाययोर्नष्टा दृष्टिर्जाता दृष्टिरिति चक्षुर्दृष्टेरनित्यत्वम्; तथा च श्रुतिमत्यादीनामात्मदृष्ट्यादीनां च नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके। वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति।

लोकमें भी तिमिर रोगकी उत्पत्ति और विनाशसे 'दृष्टि नष्ट हो गयी, दृष्टि उत्पन्न हो गयी' इस प्रकार नेत्रकी दृष्टिका अनित्यत्व प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार श्रुति-मति इत्यादिका [अनित्यत्व माना गया है;] और आत्माकी दृष्टि आदिका नित्यत्व तो लोकमें प्रसिद्ध ही है। जिसके नेत्र निकाल लिये गये हैं वह पुरुष भी ऐसा कहता ही है कि 'आज स्वप्नमें मैंने अपने भाईको देखा था।'

तथावगतबाधिर्यःस्वप्ने श्रुतो मन्त्रोऽद्येत्यादि । यदि चक्षुःसंयोगजैवात्मनो नित्या दृष्टिस्तन्नाशे नश्येत् । तदोद्धृतचक्षुः स्वप्ने नीलपीतादि न पश्येत् । "न हि द्रष्टुर्दृष्टेः" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इत्याद्या च श्रुतिरनुपपन्ना स्यात् । "तच्चक्षुः पुरुषो येन स्वप्ने पश्यति" इत्याद्या च श्रुतिः ।

तथा जिसका बहिरापन सबको ज्ञात है वह भी 'मैंने स्वप्नमें मन्त्र सुना' इत्यादि कहता ही है । यदि आत्माकी नित्य दृष्टि नेत्रेन्द्रियके संयोगसे ही उत्पन्न होनेवाली हो तो वह उसका नाश होनेपर नष्ट हो जाय । उस अवस्थामें जिसके नेत्र निकाल लिये गये हैं वह पुरुष स्वप्नमें नीला-पीला आदि नहीं देख सकेगा और तब "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति और "वह नेत्र है, जिसके द्वारा पुरुष स्वप्नमें देखता है" इत्यादि श्रुति भी निरर्थक हो जायगी ।

नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका । बाह्यदृष्टेश्चोपजनापायाद्यनित्यधर्मवत्त्वात्तद्ग्राहिकाया आत्मदृष्टेस्तद्वदवभासत्वमनित्यत्वादि भ्रान्तिनिमित्तं लोकस्येति युक्तम् । यथा भ्रमणादिधर्मवदलातादिवस्तुविषयदृष्टिरपि भ्रमतीव तद्वत् । तथा

आत्माकी नित्य दृष्टि बाह्य अनित्य दृष्टिको ग्रहण करनेवाली है । बाह्य दृष्टि उत्पत्ति-विनाशादि अनित्य धर्मोंवाली है; अतः लोगोंको जो उसे ग्रहण करनेवाली आत्म-दृष्टिका उसीके समान भासित होना और अनित्य होना आदि प्रतीत होता है वह भ्रान्तिके कारण है—ऐसा मानना ठीक ही है । जिस प्रकार भ्रमण आदि धर्मवाली अलात-चक्र आदि वस्तुओंसे सम्बन्धित दृष्टि भी भ्रमती-सी जान पड़ती है; उसी प्रकार [इसे समझना

च श्रुतिः "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति। तस्मादात्मदृष्टेर्नित्यत्वान्न यौगपद्यमयौगपद्यं वास्ति ।

बाह्यानित्यदृष्ट्युपाधिवशात्तु लोकस्य तार्किकाणां चागमसंप्रदायवर्जितत्वाद् अनित्या आत्मनो दृष्टिरिति भ्रान्तिरुपपन्नैव। जीवेश्वरपरमात्मभेदकल्पना चैतन्निमित्तैव । तथा च अस्ति नास्तीत्याद्याश्च यावन्तो वाङ्मनसयोर्भेदा यत्रैकं भवन्ति, तद्विषयाया नित्याया दृष्टेर्निर्विशेषायाः अस्ति नास्ति, एकं नाना, गुणवदगुणम्, जानाति न जानाति, क्रियावदक्रियम्, फलवदफलम्, सबीजं निर्बीजम्, सुखं दुःखम्, मध्यममध्यम्, शून्यमशून्यम्, परोऽहमन्य इति वा सर्ववाक्प्रत्ययागोचरे स्वरूपे यो विकल्पयितुमिच्छति; स नूनं खमपि चर्म-

चाहिये]। ऐसा ही "ध्यायतीव लेलायतीव" आदि श्रुति भी कहती है। अतः नित्य होनेके कारण आत्मदृष्टिका यौगपद्य (अनेक दृष्टियोंका एक साथ होना) अथवा अयौगपद्य नहीं है।

बाह्य अनित्य-दृष्टिरूप उपाधिके कारण लोकको और तार्किक पुरुषोंको वैदिक सम्प्रदायसे रहित होनेके कारण ऐसी भ्रान्ति होना उचित ही है कि आत्माकी दृष्टि अनित्य है। जीव, ईश्वर और परमात्माके भेदकी कल्पना भी इसी निमित्तसे है। इसी प्रकार अस्ति (है) नास्ति (नहीं है) आदि जितने भी वाणी और मनके भेद हैं वे सब जहाँ एक हो जाते हैं, उसे विषय करनेवाली नित्य निर्विशेष दृष्टिके सम्पूर्ण वाक्प्रतीतियोंके अविषय स्वरूपमें जो है-नहीं है, एक-अनेक, सगुण-निर्गुण, जानता है, नहीं जानता, सक्रिय-निष्क्रिय, सफल-निष्फल, सबीज-निर्बीज, सुख-दुःख, मध्य-अमध्य, शून्य-अशून्य अथवा पर-अहं एवं अन्यकी कल्पना करना चाहता है वह निश्चय ही आकाशको भी चमड़ेके

वद्वेष्टयितुमिच्छति, सोपानमिव च पद्भ्यामारोढुम्, जले खे च मीनानां वयसां च पदं दिदृक्षते । "नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । "को अद्धा वेद" (ऋ० सं० १ । ३० । ६) इत्यादिमन्त्रवर्णात् ।

समान लपेटना चाहता है और अपने पैरोंसे उसपर सीढ़ियोंके समान आरूढ़ होनेको उद्यत है। वह मानो जल और आकाशमें मछली तथा पक्षियोंके चरणचिह्न देखनेको उत्सुक है; जैसा कि "नेति नेति" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि श्रुतियों और "को अद्धा वेद[1]" इत्यादि मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है।

कथं तर्हि तस्य स म आत्मेति वेदनम्। ब्रूहि केन प्रकारेण तमहं स म आत्मेति विद्याम् ।

पूर्व०–तो फिर उसे 'वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार कैसे जाना जाता है ? बतलाओ उसे मैं किस प्रकारसे 'वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार जानूँगा ?

अत्राख्यायिकामाचक्षते–– कश्चित्किल मनुष्यो मुग्धः कैश्चिदुक्तः कस्मिंश्चिदपराधे सति धिक्त्वां नासि मनुष्य इति । स मुग्धतया आत्मनो मनुष्यत्वं प्रत्याययितुं कंचिदुपेत्याह ब्रवीतु भवान्कोऽहमस्मीति । स तस्य मुग्धतां ज्ञात्वाह । क्रमेण बोधयिष्यामीति । स्थावराद्यात्मभाव-

सिद्धान्ती–इस विषयमें एक आख्यायिका कहते हैं, किसी मूढ़ मनुष्यसे किसीने, उससे कोई अपराध बन जानेपर, कहा–'तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है।' उसने मूढ़तावश अपना मनुष्यत्व निश्चित करानेके लिये किसीके पास जाकर कहा–'आप बतलाइये, मैं कौन हूँ ?' वह उसकी मूर्खता समझकर उससे बोला––'धीरे-धीरे बतलाऊँगा।' और फिर स्थावरादिमें

१. उसे साक्षात् कौन जानता है ?

अपोह्य न त्वममनुष्य इत्युक्त्वोपरराम । स तं मुग्धः प्रत्याह भवान्मां बोधयितुं प्रवृत्तस्तूष्णीं बभूव । किं न बोधयतीति ? तादृगेव तद्भवतो वचनम् । नास्यमनुष्य इत्युक्तेऽपि मनुष्यत्वमात्मनो न प्रतिपद्यते यः स कथं मनुष्योऽसीत्युक्तोऽपि मनुष्यत्वमात्मनः प्रतिपद्येत ?

तस्माद्यथाशास्त्रोपदेश एवात्मावबोधविधिर्नान्यः । न ह्यग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद्दग्धुं शक्यम् । अत एव शास्त्रमात्मस्वरूपं बोधयितुं प्रवृत्तं सदमनुष्यत्वप्रतिषेधेनेव "नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्युक्त्वोपरराम । तथा "अनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९, ३ । ८ । ८) "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इत्यनुशासनम् । "तत्त्वमसि" (छा० उ० ३ । ८-१६) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन

उसके आत्मत्वका निषेध बतलाकर 'तू अमनुष्य नहीं है,' ऐसा कहकर चुप हो गया । तब उस मूर्खने उससे कहा—'आप मुझे समझानेके लिये प्रवृत्त होकर अब चुप हो गये' समझाते क्यों नहीं हैं ?' उसीके समान आपके ये वचन हैं । जो पुरुष 'तू अमनुष्य नहीं है' ऐसा कहनेपर अपना मनुष्यत्व नहीं समझता वह 'तू मनुष्य है' ऐसा कहनेपर भी अपना मनुष्यत्व कैसे समझ सकेगा ?

अतः जैसा शास्त्रका उपदेश है उसके अनुसार ही आत्मसाक्षात्कारकी विधि है, उससे भिन्न नहीं । अग्निसे दग्ध होनेवाले तृण आदि किसी अन्य वस्तुसे नहीं जलाये जा सकते । अतएव शास्त्र आत्मस्वरूपका बोध करानेके लिये प्रवृत्त होकर अमनुष्यत्वके प्रतिषेधके समान "नेति नेति" ऐसा कहकर चुप हो गया है । इसी तरह "अन्तर्बाह्यभावसे रहित" "यह आत्मा सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है" इत्यादि भी शास्त्रका उपदेश है । तथा "वह तू है" "जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा

कं पश्येत्"(बृ० उ० २ । ४ । १४, ४ । ५ । १५) इत्येवमाद्यपि च ।

यावदयमेवं यथोक्तमिममात्मानं न वेत्ति तावदयं बाह्यानित्यदृष्टिलक्षणमुपाधिमात्मत्वेनोपेत्य अविद्यया उपाधिधर्मानात्मनो मन्यमानो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देवतिर्यङ्नरस्थानेषु पुनः पुनरावर्तमानोऽविद्याकामकर्मवशात्संसरति । स एवं संसरन्नुपात्तदेहेन्द्रियसंघातं त्यजति । त्यक्त्वान्यमुपादत्ते । पुनः पुनरेवमेव नदीस्रोतोवज्जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदेन वर्तमानः काभिरवस्थाभिर्वर्तत इत्येतमर्थं दर्शयन्त्याह श्रुतिर्वैराग्यहेतोः—

ही हो जाता है वहाँ किससे किसे देखे ?" इत्यादि ऐसे ही और भी वाक्य यही बतलाते हैं ।

जबतक यह जीव उपर्युक्त आत्माको 'यह ऐसा है' इस प्रकार नहीं जानता तबतक यह बाह्य अनित्य दृष्टिरूप उपाधिको आत्मभावसे प्राप्त होकर अविद्यावश उपाधिके धर्मोंको आत्माके धर्म मानता हुआ ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त देवता, पशु-पक्षी और मनुष्योंकी योनियोंमें पुनःपुनः चक्कर लगाता हुआ अविद्या, कामना और कर्मके अधीन हो [जन्म-मरणरूप] संसारको प्राप्त होता रहता है । वह इस प्रकार संसारको प्राप्त होता हुआ प्राप्त हुए देह और इन्द्रियके संघातका त्याग देता है और एकको त्यागकर दूसरेको ग्रहण कर लेता है । वह इसी प्रकार नदीके स्रोतके समान जन्म-मरणकी परम्पराका विच्छेद न होते हुए किन अवस्थाओंमें रहता है इसी बातको [मनुष्योंके मनमें] वैराग्य उत्पन्न करानेके लिये दिखलाती हुई श्रुति कहती है —

पुरुषका पहला जन्म

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतः

तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति। तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

सबसे पहले यह पुरुषशरीरमें ही गर्भरूपसे रहता है। यह जो प्रसिद्ध रेतस् (वीर्य) है वह [पुरुषके] सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। [पुरुष] इस आत्मभूत तेजको अपने [शरीर] में ही पोषण करता है। फिर जिस समय वह इसे स्त्रीमें सींचता है तब इसे [गर्भरूपसे] उत्पन्न करता है। यह इसका पहला जन्म है ॥ १ ॥

अयमेवाविद्याकामकर्माभिमानवान् यज्ञादिकर्म कृत्वास्माल्लोकाद् धूमादिक्रमेण चन्द्रमसं प्राप्य क्षीणकर्मा वृष्ट्यादिक्रमेणेमं लोकं प्राप्य अन्नभूतः पुरुषाग्नौ हुतः। तस्मिन्पुरुषे ह वा अयं संसारी रसादिक्रमेण आदितः प्रथमतो रेतोरूपेण गर्भो भवतीत्येतदाह यदेतत्पुरुषे रेतस्तेन रूपेणेति।

अविद्या, काम और कर्मजनित अभिमानवाला यह जीव ही यज्ञादि कर्म करके इस लोकसे धूमादि क्रमसे चन्द्रलोकको प्राप्त हो कर्मोंके क्षीण होनेपर वृष्टि आदि क्रमसे इस लोकको प्राप्त होनेपर अन्नरूपसे पुरुषरूप अग्निमें हवन किया जाता है। उस पुरुषमें यह संसारी जीव रसादि क्रमसे सबसे पहले शुक्ररूपसे गर्भ होता है। इसी बातको 'यह जो पुरुषमें रेतस् है तद्रूपसे [गर्भ होता है]' इस वाक्यसे कहा है।

तच्चैतद्रेतोऽन्नमयस्य पिण्डस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्योऽवयवेभ्यो रसादिलक्षणेभ्यस्तेजः साररूपं शरीरस्य संभूतं परिनिष्पन्नं तत्पुरुष-

वह यह रेतस् (शुक्र) अन्नमय पिण्डके रसादिरूप सम्पूर्ण अङ्ग यानी अवयवोंसे तेज-शरीरका सारभूत निष्पन्न हुआ है। वह पुरुषका आत्मभूत होनेके कारण

स्यात्मभूतत्वादात्मा। तमात्मानं रेतोरूपेण गर्भीभूतमात्मन्येव स्वशरीर एवात्मानं बिभर्ति धारयति।

'आत्मा' है। शुक्ररूपसे गर्भीभूत हुए उस आत्माको पुरुष अपने शरीरमें ही धारण (पोषण) करता है।

तद्रेतो यदा यस्मिन्काले भार्यर्तुमती तस्यां योषाग्नौ स्त्रियां सिञ्चत्युपगच्छन्, अथ तदैनदेतद्रेत आत्मनो गर्भभूतं जनयति पिता। तदस्य पुरुषस्य स्थानान्निर्गमनं रेतःसेककाले रेतोरूपेणास्य संसारिणः प्रथमं जन्म प्रथमावस्थाभिव्यक्तिः। तदेतदुक्तं पुरस्तात् "असावात्मामुमात्मानम्" इत्यादिना ॥ १ ॥

जिस समय भार्या ऋतुमती होती है उस समय पिता उस शुक्रको स्त्रीरूप अग्नि—अर्थात् स्त्री [की योनि] में उससे संयोग करके सींचता है। उस समय वह इस शुक्रको अपने गर्भरूपसे उत्पन्न करता है। इस प्रकार रेतःसिञ्चन-कालमें रेतोरूपसे अपने स्थानसे निकलना ही इस संसारी पुरुषका प्रथम जन्म अर्थात् प्रथमावस्थाकी अभिव्यक्ति है। यही बात "असावात्मा अमुमात्मानम्' इत्यादि वाक्यसे पहले कही गयी है ॥ १ ॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति, यथा स्वमङ्गं तथा। तस्मादेनां न हिनस्ति। सास्यैतमात्मानमत्र गतं भावयति ॥ २ ॥

जिस प्रकार [स्तनादि] अपने अङ्ग होते हैं उसी प्रकार वह वीर्य स्त्रीके आत्मभाव (तादात्म्य) को प्राप्त हो जाता है। अतः वह उसे पीड़ा नहीं पहुँचाता। अपने उदरमें गये हुए उस (पति) के इस आत्माका वह पोषण करती है ॥ २ ॥

तद्रेतो यस्यां स्त्रियां सिक्तं सत्तस्या आत्मभूयमात्माव्यतिरेकतां यथा पितुरेवं गच्छति प्राप्नोति यथा स्वमङ्गं स्तनादि तथा तद्वदेव । तस्माद्धेतोरेनां मातरं स गर्भो न हिनस्ति पिटकादिवत् । यस्मात्स्तनादि स्वाङ्गवदात्मभूतं गतं तस्मान्न हिनस्ति न बाधत इत्यर्थः ।

सा अन्तर्वत्न्येतमस्य भर्तुरात्मानमत्रात्मन उदरे गतं प्रविष्टं बुद्ध्वा भावयति वर्धयति परिपालयति गर्भविरुद्धाशनादिपरिहारमनुकूलाशनाद्युपयोगं च कुर्वती ॥ २ ॥

वह वीर्य जिस स्त्रीमें सींचा जाता है उस स्त्रीके आत्मभाव अर्थात् पिताके शरीरके समान उसके शरीरसे अभिन्नताको प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार अपने अङ्ग स्तनादि (देहसे पृथक् नहीं) होते हैं उसी प्रकार यह भी हो जाता है । इसीलिये यह गर्भ पिटक (आन्तरिक व्रणरूप ग्रन्थि) आदिके समान उस माताको कष्ट नहीं देता । क्योंकि वह स्तनादि अपने अङ्गके समान शरीरसे अभेदको प्राप्त हो जाता है इसलिये वह [किसी प्रकारका] कष्ट यानी बाधा नहीं पहुँचाता—यह इसका तात्पर्य है ।

वह गर्भिणी इस अपने पतिके आत्माको यहाँ—अपने उदरमें प्रविष्ट हुआ जानकर गर्भके विरोधी भोजनादिको त्यागकर अनुकूल भोजनादिका उपयोग करती हुई उसका पालन करती है ॥ २ ॥

पुरुषका दूसरा जन्म

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं बिभर्ति । सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स

यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या । एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

वह [गर्भभूत पतिके आत्माका] पालन करनेवाली [गर्भिणी स्त्री अपने पतिद्वारा] पालनीया होती है । [गर्भिणी] स्त्री उस गर्भका पोषण करती है तथा वह (पिता) गर्भरूपसे उत्पन्न हुए [उस] कुमारका प्रसवके अनन्तर पहले [जातकर्मादि संस्कारोंसे] ही संस्कृत करता है । वह जो जन्मके अनन्तर कुमारका संस्कार करता है सो इस प्रकार इन लोकों (पुत्र-पौत्रादि) की वृद्धिसे वह अपना ही संस्कार करता है, क्योंकि इसी प्रकार इन लोकोंकी वृद्धि होती है—यही इसका दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥

सा भावयित्री वर्धयित्री भर्तुरात्मनो गर्भभूतस्य भावयितव्या वर्धयितव्या रक्षयितव्या च भर्त्रा भवति । न ह्युपकारप्रत्युपकारमन्तरेण लोके कस्यचित्केनचित्सम्बन्ध उपपद्यते । तं गर्भं स्त्री यथोक्तेन गर्भधारणविधानेन बिभर्ति धारयत्यग्रे प्राग्जन्मनः । स पिता अग्र एव पूर्वमेव जातमात्रं जन्मनोऽध्यूर्ध्वं जन्मनो जातं कुमारं जातकर्मादिना पिता भावयति । स पिता यद्यस्मात्कुमारं जन्मनो-

गर्भभूत पतिके आत्माकी वृद्धि करनेवाली वह स्त्री अपने स्वामीद्वारा वर्धयितव्या—पालनीया होती है; क्योंकि लोकमें उपकार-प्रत्युपकारके बिना किसीके साथ किसीका सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है । जन्म होनेसे पूर्व उस गर्भको वह स्त्री गर्भधारणकी यथोक्त विधिसे धारण-पोषण करती है । तथा वह पिता [जन्म होनेके बाद] पहले ही जन्म लेते ही उस कुमारका जन्मके अनन्तर जातकर्मादिद्वारा संस्कार करता है । वह पिता जो जन्मके अनन्तर उस सद्योजात कुमारका

ऽभ्यूर्ध्वमग्रे जातमात्रमेव जातकर्मादिना यद्भावयति । तदात्मानमेव भावयति । पितुरात्मैव हि पुत्ररूपेण जायते । तथा ह्युक्तम् "पतिर्जायां प्रविशति" (हरि० ३।७३।३१) इत्यादि।

तत्किमर्थमात्मानं पुत्ररूपेण जनयित्वा भावयतीत्युच्यते—

एषां लोकानां सन्तत्या अविच्छेदायेत्यर्थः । विच्छिद्येरन्हीमे लोकाः पुत्रोत्पादनादि यदि न कुर्युः केचन । एवं पुत्रोत्पादनादिकर्माविच्छेदेनैव सन्तताः प्रबन्धरूपेण वर्तन्ते हि यस्मादिमे लोकास्तस्मात्तदविच्छेदाय तत्कर्तव्यं न मोक्षायेत्यर्थः । तदस्य संसारिणः कुमाररूपेण मातुरुदराद्यन्निर्गमनं तद्रेतोरूपापेक्षया द्वितीयं जन्म द्वितीयावस्थाभिव्यक्तिः ॥ ३ ॥

जातकर्म आदिसे संस्कार करता है सो मानो अपना ही संस्कार करता है; क्योंकि पिताका आत्मा ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है । यही बात "पतिर्जायां प्रविशति" इत्यादि वाक्योंमें कही है ।

पिता अपनेको पुत्ररूपसे उत्पन्न करके क्यों संस्कार करता है ? इसपर कहते हैं—इन लोकोंके विस्तार अर्थात् अविच्छेदके लिये । यदि कोई पुत्रोत्पादनादि न करें तो ये लोक विच्छिन्न हो जायँ । इस प्रकार, क्योंकि पुत्रोत्पादनादि कर्मोंका विच्छेद न होनेके कारण ही ये लोक वृद्धिको प्राप्त होकर प्रवाहरूपसे वर्तमान रहते हैं इसलिये उनके अविच्छेदके लिये उस [पुत्रोत्पादनादि] को करना चाहिये; मोक्षके लिये नहीं—यह इसका अभिप्राय है । इस प्रकार कुमाररूपसे जो माताके उदरसे बाहर निकलना है वही इस संसारी जीवका, रेतोरूप जन्मकी अपेक्षा, दूसरा जन्म यानी इसकी द्वितीय अवस्थाकी अभिव्यक्ति है ॥ ३ ॥

पुरुषका तीसरा जन्म

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

इस (पिता) का यह [पुत्ररूप] आत्मा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानके लिये [घरमें पिताके स्थानपर] प्रतिनिधिरूपसे स्थापित किया जाता है । तदनन्तर इसका यह अन्य (पितृरूप) आत्मा वृद्धावस्थामें पहुँचकर कृतकृत्य होकर [यहाँसे] कूच कर जाता है । [यहाँसे] कूच करनेके अनन्तर वहही [कर्मफलभोगके लिये] पुनः जन्म लेता है । यही इसका तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥

अस्य पितुः सोऽयं पुत्रात्मा पुण्येभ्यः शास्त्रोक्तेभ्यः कर्मभ्यः कर्मनिष्पादनार्थं प्रतिधीयते पितुः स्थाने पित्रा यत्कर्तव्यं तत्करणाय प्रतिनिधीयत इत्यर्थः । तथा च संप्रत्तिविद्यायां वाजसनेयके पित्रानुशिष्टः—"अहं ब्रह्माहं यज्ञः" (बृ० उ० १ । ५ । १७) इत्यादि प्रतिपद्यत इति । अथानन्तरं पुत्रे निवेश्यात्मनो भारमस्य पुत्रस्येतरोऽयं यः पित्रात्मा कृतकृत्यः कर्तव्यादृणत्रयाद्विमुक्तः कृतकर्तव्य

इस पिताका वह यह पुत्ररूप आत्मा पुण्य यानी शास्त्रोक्त कर्मोंके निमित्त अर्थात् कार्यसम्पादनके लिये पिताके स्थानपर प्रतिनिधि स्थापित किया जाता है । अर्थात् पिताको जो कुछ करना चाहिये उसे करनेके लिये यह प्रतिनिधि होता है । यही बात बृहदारण्यकोपनिषद्में संप्रत्तिविद्याके* प्रकरणमें पितासे शिक्षा पाकर पुत्र कहता है—"मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ" इत्यादि । तदनन्तर पुत्रपर अपना भार छोड़कर इस पुत्रका यह पितारूप दूसरा आत्मा कृतकृत्य यानी कर्तव्यरूप ऋणत्रयसे मुक्त होकर अर्थात अपना कर्तव्य सम्पादन करके वयोगत

* जिसमें पुत्रको अपने कर्तव्य सौंपनेकी बात कही गयी है ।

इत्यर्थः, वयोगतो गतवया जीर्णः सन्प्रैति म्रियते । स इतोऽस्मात्प्रयन्नेव शरीरं परित्यजन्नेव तृणजलूकावद् देहान्तरमुपाददानः कर्मचितं पुनर्जायते । तदस्य मृत्वा प्रतिपत्तव्यं यत्तत्तृतीयं जन्म ।

ननु संसरतः पितुः सकाशाद्रेतोरूपेण प्रथमं जन्म । तस्यैव कुमाररूपेण मातुर्द्वितीयं जन्मोक्तम् । तस्यैव तृतीये जन्मनि वक्तव्ये प्रेतस्य पितुर्यज्जन्म तत्तृतीयमिति कथमुच्यते ?

नैष दोषः पितापुत्रयोरैकात्म्यस्य विवक्षितत्वात् । सोऽपि पुत्रः स्वपुत्रे भारं निधायेतः प्रयन्नेव पुनर्जायते यथा पिता । तदन्यत्रोक्तमितरत्राप्युक्तमेव भवतीति मन्यते श्रुतिः पितापुत्रयोरेकात्मत्वात् ॥ ४ ॥

होकर—अवस्था समाप्त हो जानेपर अर्थात् वृद्ध होनेपर प्रेत—मृत्युको प्राप्त हो जाता है । वह यहाँसे जाते समय अर्थात शरीरको त्यागता हुआ ही तिनकेकी जोंक आदिके समान कर्मोपलब्ध अन्य देहको प्राप्त करके पुनः उत्पन्न होता है । वह जो इसे मरनेपर प्राप्त हुआ करता है, इसका तीसरा जन्म है ।

शङ्का—संसारी जीवका पितासे वीर्यरूपसे पहला जन्म बतलाया; उसीका कुमाररूपसे मातासे दूसरा जन्म कहा । अब उसीका तीसरा जन्म बतलाते समय उसके मृत पिताका जो जन्म होता है वही इसका तीसरा जन्म है—ऐसा क्यों कहा गया ?

समाधान—पिता और पुत्रकी एकात्मता बतलानी इष्ट होनेके कारण ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है । वह पुत्र भी अपने पिताके समान अपने पुत्रपर भार छोड़कर यहाँसे कूच करनेपर फिर उत्पन्न होता ही है । यह बात एकके प्रति कही जानेपर दूसरेके लिये भी कह ही दी गयी है—ऐसा श्रुति मानती है, क्योंकि पिता और पुत्र एकरूप ही हैं ॥ ४ ॥

वामदेवकी उक्ति

एवं संसरन्नवस्थाभिव्यक्तित्रयेण जन्ममरणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः संसारसमुद्रे निपतितः कथंचिद्यदा श्रुत्युक्तमात्मानं विजानाति यस्यां कस्यांचिदवस्थायां तदैव मुक्तसर्वसंसारबन्धनः कृतकृत्यो भवतीति—

इस प्रकार संसरण करता [अर्थात् संसारमें उत्पन्न होता] हुआ और अवस्थाकी तीन अभिव्यक्तियोंके क्रमसे जन्म-मरणरूप परम्परापर आरूढ़ हुआ सम्पूर्ण लोक संसार-समुद्रमें पड़ा-पड़ा जिस समय किसी प्रकार जिस किसी अवस्थामें भी अपने श्रुतिप्रतिपादित आत्माको जान लेता है उसी समय वह सम्पूर्ण संसार-बन्धनोंसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है—

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा। शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति। गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

यही बात ऋषि (मन्त्र) ने भी कही है—'मैंने गर्भमें रहते हुए ही इन देवताओंके सम्पूर्ण जन्मोंको जान लिया है। [तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्व] मैं सैकड़ों लोहमय (लोहेके समान सुदृढ़) शरीरोंद्वारा अवरुद्ध किया हुआ था। अब [तत्त्वज्ञानके प्रभावसे] मैं श्येन पक्षीके समान [उनका छेदन करके] बाहर निकल आया हूँ'—वामदेवने गर्भमें शयन करते समय ही ऐसा कहा था ॥ ५ ॥

एतद्वस्तु तदृषिणा मन्त्रेणाप्युक्तमित्याह—

यही बात ऋषि यानी मन्त्रने भी कही है, सो बतलाते हैं—

गर्भे नु मातुर्गर्भाशय एव सन्। न्विति वितर्के। अनेक-

'गर्भे नु'—माताके गर्भमें रहते हुए ही—यहाँ 'नु' शब्द

जन्मान्तरभावनापरिपाकवशादेषां देवानां वागग्न्यादीनां जनिमानि जन्मानि विश्वा विश्वानि सर्वाण्यन्ववेदमहमहो अनुबुद्धवानस्मीत्यर्थः शतमनेका बह्व्यो मा मां पुर आयसीः आयस्यो लोहमय्य इवाभेद्यानि शरीराणीत्यभिप्रायः, अरक्षन्रक्षितवत्यः संसारपाशनिर्गमनादधः । अथ श्येन इव जालं भित्त्वा जवसा आत्मज्ञानकृतसामर्थ्येन निरदीयं निर्गतोऽस्मि । अहो गर्भ एव शयानो वामदेव ऋषिरेवमुवाचैतत् ॥ ५ ॥

वितर्कका बोध कराता है—अनेक जन्मान्तरोंकी भावनाके परिपाकवश मैंने इन वाक् एवं अग्नि आदि देवताओंके सम्पूर्ण जन्मोंका अनुभव—बोध प्राप्त किया है । मुझे संसारबन्धनसे मुक्त होनेसे पूर्व आयसी अर्थात् लोहमयीके समान सैकड़ों—अनेकों अभेद्य पुरियों--शरीरोंने सुरक्षित (अवरुद्ध) किया हुआ था । अब जालको काटकर वेगसे उड़ जानेवाले श्येन (बाज पक्षी) के समान मैं आत्मज्ञानजनित सामर्थ्यके द्वारा उससे बाहर निकल आया हूँ—अहो ! वामदेव ऋषिने गर्भमें शयन करते हुए ही ऐसा कहा था ॥ ५ ॥

वामदेवकी गति

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ६ ॥

वह [वामदेव ऋषि] ऐसा ज्ञान प्राप्तकर इस शरीरका नाश होनेके अनन्तर उत्क्रमणकर इन्द्रियोंके अविषयभूत स्वर्ग (स्वप्रकाश) लोकमें सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्तकर अमर हो गया, [अमर] हो गया ॥ ६ ॥

स वामदेव ऋषिर्यथोक्तमात्मानमेवं विद्वानस्माच्छरीरभेदाच्छरीरस्याविद्यापरिकल्पितस्य आयसवदनिर्भेद्यस्य जननमरणाद्यनेकानर्थशताविष्टशरीरप्रबन्धन-

वह वामदेव ऋषि पूर्वोक्त आत्माको इस प्रकार जानकर इस शरीरका नाश होनेके अनन्तर अर्थात् लोहमयके समान दुर्भेद्य और जन्ममरणादि अनेक प्रकारके सैकड़ों अनर्थोंसे समन्वित इस अविद्यापरि-

स्य परमात्मज्ञानामृतोपयोगजनितवीर्यकृतभेदाच्छरीरोत्पत्तिबीजाविद्यादिनिमित्तोपमर्दहेतोः शरीरविनाशादित्यर्थः । ऊर्ध्वः परमात्मभूतः सन्नधोभावात्संसारादुत्क्रम्य ज्ञानावद्योतितामलसर्वात्मभावमापन्नः सन्नमुष्मिन्यथोक्तेऽजरेऽमरेऽमृतेऽभये सर्वज्ञेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये प्रज्ञानामृतैकरसे प्रदीपवन्निर्वाणमत्यगमत्स्वर्गे लोके स्वस्मिन्नात्मनि स्वे स्वरूपेऽमृतः समभवत् । आत्मज्ञानेन पूर्वमाप्तकामतया जीवन्नेव सर्वान्कामानाप्त्वेत्यर्थः । द्विर्वचनं सफलस्य सोदाहरणस्यात्मज्ञानस्य परिसमाप्तिप्रदर्शनार्थम् ॥ ६ ॥

कल्पित शरीरपरम्पराका परमात्मज्ञानरूप अमृतके उपयोग (आस्वाद) से प्राप्त हुई शक्तिद्वारा भेद होनेपर यानी शरीरोत्पत्तिके बीजभूत अविद्या आदि निमित्तकी निवृत्तिसे होनेवाले देहपातके अनन्तर ऊर्ध्व अर्थात् परमात्मभावको प्राप्त हो अधोभाव यानी संसारसे ऊपर उठ तत्त्वज्ञानसे उद्भासित निर्मल सर्वात्मभावको प्राप्त हो उस (इन्द्रियोंसे अगोचर) पूर्वोक्त अजर, अमर, अमृत, अभय, सर्वज्ञ, अपूर्व, अनन्य, अनन्तर, अबाह्य और एकमात्र प्रज्ञानामृतस्वरूप स्वर्गलोकमें दीपककी भाँति शान्त हो गया; अर्थात् अपने आत्मा—स्वस्वरूपमें स्थित होकर अमृत हो गया । भाव यह है कि आत्मज्ञानद्वारा पहलेहीसे पूर्णकाम होनेके कारण अर्थात् जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्तकर [वह अमरत्वको प्राप्त हो गया] । फल और उदाहरणके सहित आत्मज्ञानकी सम्यक् समाप्ति सूचित करनेके लिये यहाँ [समभवत समभवत्—ऐसी] द्विरुक्ति की गयी है ॥ ६ ॥

इति ~~श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-~~
~~श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये~~ प्रथमाध्याये
प्रथमः खण्डः ~~समाप्तः~~

~~उपनिषत्क्रमेण द्वितीयः, आरण्यकक्रमेण~~
इति द्वितीयो ~~पञ्चमो~~ऽध्यायः ~~समाप्तः ।~~

तृतीयोऽध्यायः

प्रथमः खण्डः

आत्मसम्बन्धी प्रश्न

ब्रह्मविद्यासाधनकृतसर्वात्मभावफलावाप्तिं वामदेवाद्याचार्यपरम्परया श्रुत्यावद्योत्यमानां ब्रह्मवित्परिषद्यत्यन्तप्रसिद्धामुपलभमाना मुमुक्षवो ब्राह्मणा अधुनातना ब्रह्मजिज्ञासवोऽनित्यात्साध्यसाधनलक्षणात्संसारादाजीवभावाद् व्याविवृत्सवो विचारयन्तोऽन्योन्यं पृच्छन्ति कोऽयमात्मेति? कथम्—

श्रुतिद्वारा वामदेव आदि आचार्योंकी परम्परासे प्रकाशित तथा ब्रह्मवेत्ताओंकी सभामें अत्यन्त प्रसिद्ध, ब्रह्मविद्यारूप साधनके किये हुए सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्तिको उपलब्ध करनेवाले आधुनिक मुमुक्षु और ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मणलोग जीवभावपर्यन्त साध्य--साधनरूप अनित्य संसारसे निवृत्त होनेकी इच्छासे परस्पर विचार करते हुए पूछते हैं--यह आत्मा कौन है ? किस प्रकार [पूछते हैं ? सो बतलाया जाता है]—

~~कोऽयमात्मेति~~ कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे। कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति, येन वा शृणोति, येन वा गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाचं व्याकरोति, येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति॥ १ ॥

हम जिसकी उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है ? जिससे [प्राणी] देखता है, जिससे सुनता है, जिससे गन्धोंको सूँघता है, जिससे वाणीका विश्लेषण करता है, और जिससे स्वादु-अस्वादुका ज्ञान प्राप्त करता है वह [श्रुतिकथित दो आत्माओंमें] कौन-सा आत्मा है ? ॥ १ ॥

यमात्मानमयमात्मेति साक्षाद्वयमुपास्महे कः स आत्मेति यं चात्मानमयमात्मेति साक्षादुपासीनो वामदेवोऽमृतः समभवत्तमेव वयमप्युपास्महे को नु खलु स आत्मेति ।

हम जिस आत्माकी 'यह आत्मा है' इस प्रकार साक्षात् उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है ? तथा जिस आत्माको 'यह आत्मा है' इस प्रकार साक्षात् उपासना करनेवाला वामदेव अमर हो गया था उसी आत्माकी हम उपासना करते हैं । किन्तु वस्तुतः वह आत्मा है कौन-सा ?

एवं जिज्ञासापूर्वमन्योन्यं पृच्छतामतिक्रान्तविशेषविषयश्रुतिसंस्कारजनिता स्मृतिरजायत । 'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्' 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' एतमेव पुरुषम् । अत्र द्वे ब्रह्मणी इतरेतरप्रातिकूल्येन प्रतिपन्ने इति । ते चास्य पिण्डस्यात्मभूते । तयोरन्यतर आत्मोपास्यो भवि-

इस प्रकार जिज्ञासापूर्वक एक दूसरेसे प्रश्न करते हुए उन्हें आत्म-सम्बन्धी विशेष विवरणसे युक्त पूर्वोक्त श्रुतिके संस्कारसे यह स्मृति पैदा हुई--'इस पुरुषमें ब्रह्म पादाग्र-भागद्वारा प्रविष्ट हुआ' तथा इसी पुरुषमें 'वह इस सीमाको ही विदीर्णकर इसके द्वारा प्राप्त हुआ ।' इस प्रकार यहाँ एक दूसरेसे प्रतिकूल दो ब्रह्म ज्ञात होते हैं और वे इस पिण्डके आत्मस्वरूप हैं । इनमेंसे कोई एक ही आत्मा उपासनीय हो

तुमर्हति । योऽत्रोपास्यः कः आत्मेति विशेषनिर्धारणार्थं पुनरन्योन्यं पप्रच्छुर्विचारयन्तः ।

पुनस्तेषां विचारयतां विशेषविचारणास्पदविषया मतिरभूत् । कथम्? द्वे वस्तुनी अस्मिन् पिण्ड उपलभ्येते । अनेकभेदभिन्नेन करणेन येनोपलभते । यश्चैक उपलभ्येते । करणान्तरोपलब्धविषयस्मृतिप्रतिसन्धानात् । तत्र न तावद्येनोपलभते स आत्मा भवितुमर्हति ।

केन पुनरुपलभत इत्युच्यते येन वा चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति । येन वा शृणोति श्रोत्रभूतेन शब्दम्, येन वा घ्राणभूतेन गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाक्करणभूतेन वाचं नामात्मिकां व्याकरोति गौरश्व इत्येवमाद्यां साध्वसाध्विति च,

सकता है । इनमें जो उपासनीय है वह आत्मा कौन-सा है ? इस विशेष बातको निश्चय करनेके लिये उन्होंने आपसमें विचार करते हुए एक-दूसरेसे फिर पूछा ।

फिर आपसमें विचार करनेवाले उन मुमुक्षुओंको अपने विचारणीय विशेष विषयके सम्बन्धमें यह बुद्धि पैदा हुई । किस प्रकार पैदा हुई ? [सो बतलाते हैं-] इस पिण्डमें दो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं—एक तो जिस चक्षु आदि अनेक प्रकारके भेदोंसे विभिन्न साधन (इन्द्रियग्राम) द्वारा [पुरुष विषयोंको] उपलब्ध करता है और दूसरा जो उपलब्ध किया करता है; क्योंकि वह भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध हुए विषयोंकी स्मृतिका अनुसन्धान करता है । उनमेंसे जिसके द्वारा पुरुष उपलब्ध करता है वह तो आत्मा हो नहीं सकता ।

तो फिर वह किसके द्वारा उपलब्ध करता है, सो बतलाया जाता है— नेत्रके साथ एकीभूत हुए जिस श्रोत्रभावापन्नके द्वारा वह शब्द श्रवण करता है, जिस घ्राणेन्द्रियभूतसे वह गन्धोंको सूँघता है, जिस वागिन्द्रियभूतसे वह गो-अश्व इत्यादि नामात्मिका तथा साधु-असाधु वाणीका विश्लेषण

येन वा जिह्वाभूतेन स्वादु चास्वादु च विजानातीति ॥ १ ॥

करता है और जिस रसनेन्द्रियभूतसे वह स्वादु-अस्वादु पदार्थोंको जानता है ॥ १ ॥

प्रज्ञानसंज्ञक मनके अनेक नाम

किं पुनस्तदेवैकमनेकधा भिन्नं करणम् ? इत्युच्यते—

पहले जो एक ही अनेक प्रकार-से विभिन्न करण बतलाया है वह कौन है ? इसपर कहते हैं—

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत् । संज्ञानमाज्ञानं, विज्ञानं प्रज्ञानं, मेधा, दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा, जूतिः, स्मृतिः, संकल्पः, क्रतुरसुः, कामो, वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

यह जो हृदय है वही मन भी है। संज्ञान (चेतनता), आज्ञान (प्रभुता), विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति (रोगादिजनित दुःख), स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु (प्राण), काम, और वश (मनोज्ञ वस्तुओंके स्पर्शादिकी कामना)—ये सभी प्रज्ञानके नाम हैं ॥ २ ॥

यदुक्तं पुरस्तात्प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनो मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः । तदेवैतद्धृदयं मनश्च, एकमेव तदनेकधा । एतेनान्तःकरणेनैकेन चक्षुर्भूतेन

पहले जो कहा है कि प्रजाओं-का रेतस् (सारभूत) हृदय है, हृदयका सारभूत मन है, मनसे जल और वरुणकी सृष्टि हुई; हृदयसे मन हुआ और मनसे चन्द्रमा। वह यह हृदय ही मन भी है। वह एक ही अनेकरूप हो रहा है। इस एक अन्तःकरणसे ही नेत्ररूपसे रूपको

रूपं पश्यति श्रोत्रभूतेन शृणोति घ्राणभूतेन जिघ्रति वाग्भूतेन वदति जिह्वाभूतेन रसयति स्वेनैव विकल्पनारूपेण मनसा विकल्पयति हृदयरूपेणाध्यवस्यति। तस्मात्सर्वकरणविषयव्यापारकमेकमिदं करणं सर्वोपलब्ध्यर्थमुपलब्धुः।

तथा च कौषीतकीनां "प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति। प्रज्ञा चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति' (३।६) इत्यादि। वाजसनेयके च—"मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति" (बृ० उ० १।५।३) इत्यादि। तस्माद् हृदयमनोवाच्यस्य सर्वोपलब्धिकरत्वं प्रसिद्धम्। तदात्मकश्च प्राणो "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः" (कौषी० ३।३) इति हि ब्राह्मणम्।

देखता है, श्रोत्ररूपसे श्रवण करता है, घ्राणरूपसे सूँघता है, वागिन्द्रियरूपसे बोलता है, जिह्वारूपसे चखता है, स्वयं सङ्कल्प-विकल्परूप मनसे सङ्कल्प करता है और हृदयरूपसे निश्चय करता है। अतः उपलब्धाको समस्त उपलब्धियोंके लिये इन्द्रियसम्बन्धी सारे व्यापारोंको करनेवाला यही एक साधन है।

इसी प्रकार कौषीतकी उपनिषद्में भी कहा है—"प्रज्ञाद्वारा वाणीपर आरूढ़ होकर वाणीसे सम्पूर्ण नामोंको प्राप्त (ग्रहण) करता है, प्रज्ञाद्वारा चक्षु इन्द्रियपर आरूढ़ होकर चक्षुसे सारे रूपोंको प्राप्त करता है" इत्यादि। तथा बृहदारण्यकमें कहा है—"मनसे ही देखता है, मनसे ही सुनता है, हृदयसे ही रूपोंका ज्ञान प्राप्त करता है" इत्यादि। अतः हृदय और मनःशब्दवाच्य अन्तःकरणका ही सब प्रकारकी उपलब्धिमें साधनत्व प्रसिद्ध है। प्राण भी तद्रूप ही है। "जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है" ऐसा ब्राह्मणवाक्य है।

करणसंहतिरूपश्च प्राण इत्यवोचाम प्राणसंवादादौ । तस्माद्यत्पद्भ्यां प्रापद्यत तद्ब्रह्म तदुपलब्धुरुपलब्धिकरणत्वेन गुणभूतत्वान्नैव तद्वस्तु ब्रह्मोपास्यात्मा भवितुमर्हति । पारिशेष्याद्यस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्था एतस्य हृदयस्य मनोरूपस्य करणस्य वृत्तयो वक्ष्यमाणाः । स उपलब्धोपास्य आत्मानोऽस्माकं भवितुमर्हतीति निश्चयं कृतवन्तः ।

'प्राण इन्द्रियोंका संघातरूप है' यह बात हम प्राणसंवाद आदि प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अतः जिसने चरणोंकी ओरसे प्रवेश किया था वह ब्रह्म उपलब्धाकी उपलब्धिका साधन होनेके कारण गौण होनेसे मुख्य ब्रह्म अर्थात् उपास्य आत्मा नहीं हो सकता। अतः पारिशेष्यनियमानुसार* जिस उपलब्धाकी उपलब्धिके लिये इस हृदय एवं मनोरूप अन्तःकरणकी आगे बतलायी जानेवाली वृत्तियाँ होती हैं वह उपलब्धा ही हमारा उपासनीय आत्मा है—ऐसा उन्होंने निश्चय किया।

तदन्तःकरणोपाधिस्थस्योपलब्धुः प्रज्ञारूपस्य ब्रह्मण उपलब्ध्यर्था या अन्तःकरणवृत्तयो बाह्यान्तर्वर्तिविषयविषयास्ता इमा उच्यन्ते । संज्ञानं संज्ञप्तिश्चेतनभावः, आज्ञानमाज्ञप्तिरीश्वरभावः, विज्ञानं कलादिपरिज्ञानम्, प्रज्ञानं

उस अन्तःकरणरूप उपाधिमें स्थित प्रज्ञानरूप उपलब्धा ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये जो बाह्य और आन्तरिक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं वे ये बतलायी जाती हैं—संज्ञान-संज्ञप्ति अर्थात् चेतनभाव, आज्ञान—आज्ञा करना अर्थात् ईश्वरभाव (प्रभुता), विज्ञान—कलादिका ज्ञान, प्रज्ञान—

* जहाँ अपाततः अनेकोंमेंसे किसी एक धर्म या गुणकी सम्भावना प्रतीत होनेपर भी और सबका प्रतिषेध करके बचे हुए किसी एक ही पदार्थमें उसका निर्णय किया जाता है वहाँ 'पारिशेष्यनियम' माना जाता है ।

प्रज्ञप्तिः प्रज्ञता. मेधा ग्रन्थधारण-सामर्थ्यम्, दृष्टिरिन्द्रियद्वारा सर्वविषयोपलब्धिः, धृतिर्धारणमवसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां यथोत्तम्भनं भवति—धृत्या शरीरमुद्वहन्तीति हि वदन्ति, मतिर्मननम्, मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्, जूतिश्चेतसो रुजादिदुःखित्वभावः, स्मृतिः स्मरणम्, संकल्पः शुक्लकृष्णादिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्, क्रतुरध्यवसायः, असुः प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः, कामोऽसंनिहितविषयाकाङ्क्षा तृष्णा, वशः स्त्रीव्यतिकराद्यभिलाषः, इत्येवमाद्या अन्तःकरणवृत्तयः प्रज्ञप्तिमात्रस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्थत्वाच्छुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि भवन्ति संज्ञानादीनि । सर्वाण्येव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति न स्वतः साक्षात् । तथा चोक्तं

प्रज्ञप्ति यानी प्रज्ञता (समयोचित बुद्धि स्फुरित हो जाना-प्रतिभा), मेधा—ग्रन्थधारणकी शक्ति, दृष्टि—इन्द्रियोंद्वारा सब विषयोंको उपलब्ध करना, धृति—धारण करना, जिससे शिथिल हुए शरीर और इन्द्रियोंमें जागृति होती है, 'धृतिसे ही शरीरको उठाकर वहन करते हैं' ऐसा [पण्डितजन] कहते हैं, मति—मनन करना, मनीषा--मनन करनेकी स्वतन्त्रता, जूति—चित्तका रोगादिसे दुखी होना, स्मृति—स्मरण, सङ्कल्प—शुक्ल-कृष्णादि भावसे रूपादिका सङ्कल्प करना, क्रतु—अध्यवसाय, असु--जीवनकी निमित्तभूत श्वासोच्छ्वासादि क्रिया, काम--अप्राप्त विषयकी आकाङ्क्षा यानी तृष्णा और वश—स्त्रीसंसर्गादिकी अभिलाषा—इत्यादि प्रकारकी अन्तःकरणकी वृत्तियाँ प्रज्ञप्तिरूप उपलब्धाकी उपलब्धिके लिये होनेके कारण विशुद्धबोधस्वरूप ब्रह्मकी उपाधिभूत हैं । अतः उसकी उपाधिजनित गुणवृत्तिसे ये संज्ञान आदि उस ब्रह्मके ही नाम हैं । ये सभी प्रज्ञप्तिमात्र प्रधानके नाम ही हैं; स्वतः साक्षात् कुछ नहीं हैं;

"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इत्यादि ॥ २ ॥

ऐसा ही कहा भी है—"प्राणन करनेके कारण ही [ब्रह्म] प्राण नामवाला है" इत्यादि ॥ २ ॥

प्रज्ञानकी सर्वरूपता

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषीत्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिज्जानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किंचेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

यह (प्रज्ञानरूप) ही ब्रह्म है; यही इन्द्र है; यही प्रजापति है; यही ये [अग्नि आदि] सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच भूत हैं; यही क्षुद्र जीवोंके सहित उनके बीज (कारण) और अन्य अण्डज; जरायुज; स्वेदज; उद्भिज; अश्व; गौ; मनुष्य एवं हाथी है तथा [इनके अतिरिक्त] जो कुछ भी यह जङ्गम (पैरसे चलनेवाले), पतत्रि (आकाशमें उड़नेवाले) और स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) रूप प्राणिवर्ग है वह सब प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान (निरुपाधिक चैतन्य) में ही स्थित है। लोक प्रज्ञानेत्र (प्रज्ञा—चैतन्य ही जिसका नेत्र—व्यवहारका कारण है ऐसा) है, प्रज्ञा ही उसका लयस्थान है, अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है ॥ ३ ॥

ऐ० उ० ७—

स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्थः प्राणः प्रज्ञात्मा। अन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतसूर्यप्रतिबिम्बवद्धिरण्यगर्भः प्राणः प्रज्ञात्मा एष एव इन्द्रो गुणाद्देवराजो वा एष प्रजापतिर्यः प्रथमजः शरीरो। यतो मुखादिनिर्भेदद्वारेणाग्न्यादयो लोकपाला जाताः स प्रजापतिरेष एव। येऽप्येतेऽग्न्यादयः सर्वे देवा एष एव।

वह यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही अपर ब्रह्म है, अर्थात् सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित प्राण-प्रज्ञात्मा है। विभिन्न जलपात्रोंमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान यही अन्तःकरणरूप उपाधियोंमें अनुप्रविष्ट हिरण्यगर्भ—प्राण यानी प्रज्ञात्मा है। यही ['इदमदर्शम्' इस श्रुतिमें बतलाये हुए] गुणके कारण इन्द्र अथवा देवराज है। यही प्रजापति है, जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी है। जिससे मुखादिनिर्भेदके द्वारा अग्नि आदि लोकपाल उत्पन्न हुए हैं वह प्रजापति भी यही है। और भी ये जो अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता हैं वे भी यही हैं।

इमानि च सर्वशरीरोपादानभूतानि पञ्च पृथिव्यादीनि महाभूतान्यन्नान्नादत्वलक्षणान्येतानि किंचेमानि च क्षुद्रमिश्राणि क्षुद्रैरल्पकैर्मिश्राणि, इवशब्दोऽनर्थकः, सर्पादीनि बीजानि कारणानीतराणि चेतराणि च द्वैराश्येन निर्दिश्यमानानि।

ये जो समस्त शरीरोंके उपादानभूत एवं अन्न और अन्नादत्वभावको प्राप्त हुए पृथिवी आदि पञ्चभूत हैं, क्षुद्र यानी अल्प जीवोंके सहित जो सर्पादि हैं तथा बीज—कारण और इतर—कार्यवर्ग इस प्रकार अलग-अलग दो विभागोंसे निर्दिष्ट [समस्त प्राणी हैं वे भी यही हैं]। ['क्षुद्रमिश्राणीव' इस पदसमूहमें] 'इव' शब्दका प्रयोग अनर्थक है।

कानि तानि ! उच्यन्ते—अण्डजानि पक्ष्यादीनि, जारुजानि जरायुजानि मनुष्यादीनि, स्वेदजादीनि यूकादीनि, उद्भिजानि च वृक्षादीनि, अश्वा गावः पुरुषा हस्तिनोऽन्यच्च यत्किंचेदं प्राणिजातम्; किं तत् ? जङ्गमं यच्चचलति पद्भ्यां गच्छति। यच्च पतत्रि आकाशेन पतनशीलम्। यच्च स्थावरमचलम्। सर्वं तदेव एव। सर्वं तदशेषतः प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञप्तिः प्रज्ञा तच्च ब्रह्मैव। नीयतेऽनेनेति नेत्रम् प्रज्ञा नेत्रं यस्य तदिदं प्रज्ञानेत्रम्। प्रज्ञाने ब्रह्मण्युत्पत्तिस्थितिलयकालेषु प्रतिष्ठितं प्रज्ञाश्रयमित्यर्थः। प्रज्ञानेत्रो लोकः पूर्ववत्। प्रज्ञाचक्षुर्वा सर्व एव लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा सर्वस्य जगतः। तस्मात्प्रज्ञानं ब्रह्म।

तदेतत्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं सन्निरञ्जनं निर्मलं निष्क्रियं शान्तमेकमद्वयं "नेति नेति" इति (बृ० उ० ३। ९। २६)

वे कौन-कौन हैं, सो बतलाते हैं। अण्डज—पक्षी आदि, जारुज—जरायुज मनुष्यादि, स्वदेज—जूँ आदि, उद्भिज—वृक्षादि तथा अश्व, गौ, पुरुष, हाथी एवं अन्य भी ये जो कुछ प्राणी हैं वे कौन-कौन-से ? जङ्गम—जो पैरोंसे चलते हैं, पक्षी—जो आकाशमें उड़नेवाले हैं और स्थावर—जो अचल हैं, वे सब यही हैं अर्थात् वे सब-के-सब प्रज्ञानेत्र हैं। प्रज्ञा प्रज्ञप्तिको कहते हैं और वह ब्रह्म ही है तथा जिससे नयन किया जाय [अर्थात् ले जाया जाय] उसे 'नेत्र' कहते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा ही जिसका नेत्र है वह प्रज्ञानेत्र कहलाता है। तथा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके समय प्रज्ञान यानी ब्रह्ममें स्थित रहनेवाले अर्थात् प्रज्ञाके आश्रित हैं। इस प्रकार पूर्ववत् यह लोक प्रज्ञानेत्र है अर्थात् सभी लोक प्रज्ञारूप नेत्रवाला है, सम्पूर्ण जगत्का आश्रय प्रज्ञा ही है; अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

जो सम्पूर्ण औपाधिक विशेषतासे रहित, नित्य, निरञ्जन, निर्मल, निष्क्रिय, शान्त, एक और अद्वितीय है, जो "नेति नेति" इत्यादि [श्रुतियोंद्वारा] क्रमसे

सर्वविशेषापोहसंवेद्यं सर्वशब्द-प्रत्ययागोचरम् । तदत्यन्तविशुद्ध-प्रज्ञोपाधिसंबन्धेन सर्वज्ञमीश्वरं सर्वसाधारणाव्याकृतजगद्बीजप्र-वर्तकं नियन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति । तदेव व्याकृतजगद्बीज-भूतबुद्ध्यात्माभिमानलक्षणहिर-ण्यगर्भसंज्ञं भवति । तदेवान्त-रण्डोद्भूतप्रथमशरीरोपाधिम-द्विराट्प्रजापतिसंज्ञं भवति । तदुद्भूताग्न्याद्युपाधिमद्देवतासंज्ञं भवति । तथा विशेषशरीरोपाधि-ष्वपि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु तत्तन्नामरूपलाभो ब्रह्मणः । तदेवैकं सर्वोपाधिभेदभिन्नं सर्वैः प्राणिभिस्तार्किकैश्च सर्व-प्रकारेण ज्ञायते विकल्प्यते चा-नेकधा । "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् । इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्" (मनु० १२।१२३) इत्याद्या स्मृतिः ॥३॥

समस्त विषयोंका बाध करके जानने-योग्य है तथा सब प्रकारके शाब्दिक ज्ञानका अविषय है, अत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञारूप उपाधिके सम्बन्धसे सर्वज्ञ तथा जगत्के सर्वसाधारण और अव्यक्त बीजका प्रवर्तक वह ईश्वर ही सबका नियन्ता होनेके कारण 'अन्तर्यामी' नामवाला है । वही व्याकृत जगत्का बीजभूत विज्ञाना-त्माका अभिमानी 'हिरण्यगर्भ' नामवाला है तथा वही ब्रह्माण्डके भीतर सबसे पहले उत्पन्न हुए शरीररूप उपाधिवाला 'विराट् प्रजा-पति' संज्ञावाला है । वही उससे उत्पन्न हुए अग्नि आदिकी उपाधि-से 'देवता' संज्ञावाला है तथा उस ब्रह्मको ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त विशेष-विशेष शरीरोंकी उपाधियोंमें भी उन-उनके नाम और रूप प्राप्त हुए हैं । सम्पूर्ण उपाधिभेदसे विभिन्न वही एक समस्त प्राणियों और तार्किकोंद्वारा सब प्रकारसे जाना जाता और अनेक प्रकारसे कल्पना किया जाता है । [इस विषयमें] "इसे कोई तो अग्नि बतलाते हैं तथा कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं" इत्यादि स्मृति भी है ॥३॥

आत्मैक्यवेत्ताकी अमृतत्व-प्राप्ति

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥४॥

वह (वामदेव) इस चैतन्यस्वरूपसे ही इस लोकसे उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोकमें सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर अमर हो गया, [अमर] हो गया ॥ ४ ॥

स वामदेवोऽन्यो वैवं यथोक्तं ब्रह्म वेद प्रज्ञेनात्मना; येनैव प्रज्ञेनात्मना पूर्वे विद्वांसोऽमृता अभूवंस्तथायमपि विद्वानेतेनैव प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्य इत्यादि व्याख्यातम् । अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वा अमृतः समभवत्समभवदित्योमिति ॥ ४ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त ब्रह्मको जाननेवाला वह वामदेव अथवा कोई अन्य पुरुष चेतनात्मस्वरूपसे, जिस चेतनात्मस्वरूपसे पूर्ववर्ती विद्वान् अमरभावको प्राप्त हुए थे उसी प्रकार यह विद्वान् भी इस चेतनात्मस्वरूपसे ही इस लोकसे उत्क्रमणकर—इत्यादि वाक्यकी पहले (१ । २ । ६ में) ही व्याख्या की जा चुकी है । अर्थात् इस लोकसे उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोकमें सम्पूर्ण कामनाएँ पाकर अमर हो गया, [अमर] हो गया—इत्यलम् ॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये तृतीयेऽध्याये प्रथमः खण्डः समाप्तः ।

उपनिषत्क्रमेण तृतीयः, आरण्यकक्रमेण षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

ॐ तत्सत्

ॐ

शान्तिपाठः

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका





मुद्रक—अमर मुद्रणालय, (काशी गोशाला) टाउनहाल, वाराणसी ।

मिलनेका पता

गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)